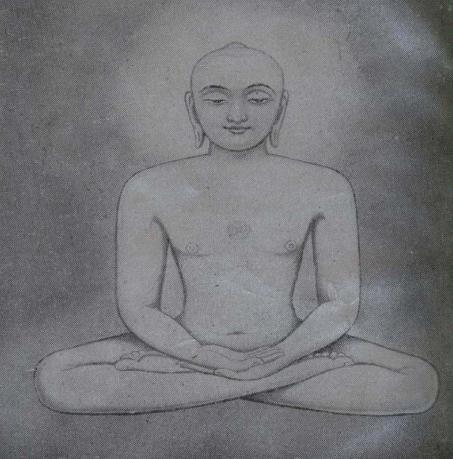
अंध्यंत्राम दोग्री-





अमण भगवान् महावीर

महावीर-वाणी

माननीय श्री विनोबा भावे के दो शब्द और

> डॉ. भगवान्दासकी प्रस्तावनाके साथ

> > ः सम्पादकः **नेचर**दास दोशी



भारत जैन महामण्डल, वधी [मार्च १९५३]

सुगणाबाई बड़जाते जैन ग्रन्थमाला—४

(दिल्ली सस्तासाहित्य मंडल)
पहली बार; मूल और अनुवाद के साथ २०००
(वर्घा भारत जैन महामंडल)
दूसरी बार मात्र अनुवाद १९४२ १०००
तीसरी बार मार्च १९५० २०००
सौधी बार मार्च १९५३ २०००

मूल्य: सवा दो रुपये

प्रकाशकः जमनालाल जैन प्रबन्ध मंत्री भारत जैन महामं**र**ल, वर्घा मुद्रकः परमेष्टीदास जैन जैनेन्द्र प्रेस **ङिलतपुर** (उ० प्र०)



स म र्प ण

सौ० श्रीमती अजवाली को-

जिनकी सप्रेम सहचारिता के बिना साहित्य—क्षेत्र में मैं कुछ भी नहीं कर सकता—

सादर समर्पण

--बेचरदास

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रकाशक की और से	ч	१३ कषाय-स्त्र	८७
संपादकीय	v	१४ काम-सूत्र 🐪	5 3
महावीर और उनकी वाणी	२०	१५ अशरण-सूत्र रे	55
मैं उन्होंका काम कर रहा हूँ	२२	9६ बाल-सूत्र 🕆	904
महावीर वाणी के तृतीय		९७ पण्डित-सूत्र 🖰	994
संस्करण की प्रस्तावना	२३	९८ आत्म-सूत्र 🐇	१२१
१ मंगल-सूत्र	3	१९ छोक्तत्त्व-सूत्र	१२७
२ धर्म-सूत्र	હ	२० पूज्य-सूत्र 🎋	१३५
३ अहिंसा-स्त्र	93	२१ ब्राह्मण-सूत्र 🤭	989
४ सत्य-सूत्र	98	२२ भिक्षु-सूत्र 🦈	180
५ अस्तेनक-सूत्र	३ ५	२३ मोक्षमार्ग-सूत्र 👑 ्	944
६ ब्रह्मचर्य-सूत्र	२९	२४ जतिमदनिवारण-सूत्र	१६५
७ अपरिग्रह-सूत्र	३९	२५ क्षमापन-सूत्र	909
८ अरात्रिभोजन-सूत्र	४३	पारिभाषिक शब्दोंके अर्थ	9 63
९ विनय स्त्र	૪૭		
१० चतुरंगीय-सूत्र '	yy	महावीरवाणीके पद्योंकी	
११-१ अप्रमाद-स्त्र 🖰	Ę٩	अक्षरा नुक्रम णिका	१७९
११-२ अप्रमाद-सूत्र	ુ	शुद्धिपत्रक	966
१२ प्रमादस्थान-सूत्र ः	७९	संस्कृतानुवाद ९	1-40

प्रकाशक की ओर से

पहली बार 'महावीर-वाणी' सस्ता साहित्य मंडल, नई दिली की ओरसे जनवरी सन् १९४२ में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद महामण्डल की ओर से, सुगणाबाई प्रन्थमाला के अन्तर्गत ही, इसका केवल हिन्दी अनुवाद-अंश प्रकाशित किया और प्रायः अमूल्य ही वह वितरित हुआ।

अब यह पुस्तक अपने पूर्व और पूर्ण रूप में सम्पादक और प्रकाशक की अनुमतिपूर्वक प्रकाशित की जा रही है— यह हमारे लिये प्रसन्ता की बात है।

इस महंगाई में भी मूल्य में अधिक वृद्धि नहीं की गई है। हम चाहते हैं कि इस 'वाणी' का घर-घर में प्रचार हो।

सुगणाबाई-प्रनथमाला श्री. चिरंजीलाल जी बड़जाते की माँ की स्पृति में चल रही है और यह उसका चौथा पुष्प है। इसकी बिकी से प्राप्त होनेवाली रकम से यथा-शक्ति दूसरे प्रकाशन भी भेंट किए जा सकेंगे।

भाशा है, इस पुस्तक का समाजमें यथोचित आदर और उपयोग होगा। दृष्टि-दोष से यदि कुछ अशुद्धियाँ रह गई हों तो कृपया पाठक सुधार छें।

पन्ना भुवन, भुसावल वीर जयन्ती, २४७६ ता०३१ मार्च १९५० फकीरचन्द् पन्० जैन प्रबन्ध मंत्री भारत जैन महामण्डल

पुनश्च---

तीन वर्ष के बाद 'महावीर-वाणी' का तीसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

इस बार 'महावीर-वाणी' में सम्पादक ने कुछ संशोधन किए हैं। 'विवाद-सूत्र' निकालकर 'जाति-मद-निवारण सूत्र' दिए गए हैं तथा कुछ गाथाएं, निकाल दी गईं हैं।

पाठकों की सुविधा के लिए पुस्तक का हिन्दी अनुवाद-अंदा अलग से लापा गया है। प्राकृत और संस्कृत में रुचि न रखने वालों के लिए यह संस्करण उपयोगी होगा।

पुस्तक पं० परमेष्ठीदास जी के जैनेन्द्र प्रेस में छपी है। उन्होंने उनका जो सम्बन्ध है वह व्यावसायिकता से ऊपर है। उन्होंने छपाई के सम्बन्ध में पर्याप्त दिलचस्पी ली है और शुद्ध छपाई का ध्यान रखा है। हम छपाई के काम को झाड़ देने का काम समझते हैं। कितना भी बारीकी से देखा जाय, कुछ न कुछ गलतियाँ—अशुद्धियाँ रह जाती हैं। जो हो; भाई परमेष्ठीदास जी को धन्यवाद देना अपनी ही प्रशंसा करने जैसा होगा।

वर्धा १५ मार्चे, ५३

—जमनालाल जैन



संपादकीय

'महावीरवाणी 'नी आ जातनो आ त्रीजी आवृत्ति गणाय. प्रथम आवृत्ति २००० नक्क दिल्ली-सस्तासाहित्य मंडळ द्वारा प्रकाशित थयेली.

पछी मूळगाथा विनानो केवळ हिन्दी अनुवाद (१००० नकल) भाई श्रीचिरंजीलालजी बडजातेप पोतानां मातुश्रीना स्मरणमां वर्घाथी छपावेलो.

भाईश्री चिरंजीलालजी बडजाते सद्गत श्री. जमनालालजी बजाजना विशेष संपर्कमां आवेला जैनधर्मपरायण पक सज्जन भाई छे. वर्धामां रहे छे अने
यथाशक्ति जनसेवामां तत्परता बताबी रह्या छे.
महावीरवाणी द्वारा मारो एमनी साथे स्नेह्युक्त
मधुर गाढ परिचय थई गयो छे. मूळ अने हिन्दी
अजुवादवाळुं आ प्रस्तुत प्रकाशन तेमणे पोतानां
मातुश्रीना स्मरणमां प्रकाशित करवा साठ भारे
तत्परता दाखवी छे. ते अर्थे तेमनुं अहीं नामस्मरण
सविशेष उचित छे. आ भाई भारत जैन महामंडळना
सविशेष कार्यकर छे.

त्यारबाद मूळ साथेनी अनुवादवाळी बीजी आवृत्ति (२००० नकल) भारत जैन महामंडलना कार्याध्यक्ष भाईश्री <u>रिषभदास रांकाजीप</u> पोतानी उक्त संस्था द्वारा प्रकाशित करेली.

आ प्रस्तुत आवृत्ति (२२०० नकल) पण ए ज संस्था (भारत जैन महामंडल) भाईश्री चिरंजी-लालजी बडजातेनी सहायता द्वारा छापीने प्रकाशित करी रही छे.

प्रकाशक संस्थाना प्राणरूप भाई रांकाजीनो परिचय मने वीसापुर जेलमां १९३० मां थयेल छे. तेओ त्यां सत्याप्रही तरीके एक के वे वरसनी जेल लईने आवेला. धर्मचर्चाने निमित्ते मारो अने पमनो सविशेष परिचय थई गयो. आ भाई हमणां हमणां पोतानो बघो समय राष्ट्रसेवा अने भारत जैन महा-मंडळनी सार्वजनिक प्रवृत्तिओमां रोकी रह्या छे. मान-नीय श्री. विनोबाजीनी अहिंसामूलक भूदान यज्ञनी सर्वोदयी प्रवृत्तिमां एमने विशेष रस छे. आ भाई पण वर्धामां रहे छे अने तेथी ज वर्धामां वसेला संतकोटिना महानुभावो सद्गत श्री. कि. घ. मराख्वाळा, निर्वाण पामेला पू. बावूजी वगेरेना संपर्कमां रहेनारा छे. वर्घा निवासने कारणे अने सद्गत जमनालालजीनी गोसेवा-प्रवृत्तिमां विशेष रस होवाने लीधे तेओ माननीय श्री. विनोबाजीना पण विशेष संपर्कमां छे.

मारो अने एमनो जेलिनवास द्रमियान थयेलो स्नेहसंपर्क महावीरवाणीने निमित्ते आज सुधी पवो ने एवो चालु रहेल छे—विशेष सुमधुर गाढ बनेल छे. आ भाईने महावीरवाणी प्रत्ये निर्व्याज प्रम छे तेने लीधे ज तेओए माननीय विनोबाजीपासेथी आ पुस्तक विशेष सूचन मागेलुं, पने परिणामे आ पुस्तकमां थोडी वधघट थयेली छे अने पाछळ संस्कृत अनुवादनो उमेरो एण थयेल छे. तथा आ वाणी माटे माननीय विनोबाजीना खास सूचक 'बे राब्दो,' सुद्धां मळी शक्या छे.

बा माटे हुं भाई रांकाजीनो सिवशेष आभारी छुं अने राष्ट्रसेवानी असाधारण प्रवृत्तिमां रोकायेला होवा छतां श्री विनोबाजीप 'महावीरवाणी' प्रत्ये जे पोतानो सद्भाव व्यक्त करी बताव्यो छे ते माटे तेमनो पण सविशेष आभार मानवानुं अहीं जतुं करी शकाय पम नथी.

आ वखते माननीय डॉ. भगवानदास जीए पोते खास नवी प्रस्तावना छखी मोकली छे एटलुं ज नहीं पण तेमणे सर्व धर्म समभावनी दृष्टिए अने पोते खरेखर समन्वयवादी छे ए भावनाने लीधे नवी प्रस्तावनामां तेमणे महावीरवाणी प्रत्ये पोतानी असाधारण लागणो प्रगट करेल छे अने जैन बंधुओनी उदारता बाबत असाधारण विश्वास बताववा साथे

[९]

महावीरवाणीना प्रचार माटे पोतानो अंगत अभिप्राय पण दर्शावेल हे.

आशी खास आशा वंधाय छे के तटस्थ डा. भगवानदासजीनां वचनोनी जैन समाज जरूर कदर करशे. महावीरवाणी प्रत्ये डोक्टर महाशयनी लागणी बदल अहीं हुं तेमनो पण सविशेष आभार मानुं छुं.

१९४२ थी १९५३ सुधीमां मूळ अने अनुवाद साथेनी महावीरवाणीनी त्रण आवृत्तिओ थई गणाय अने जो तेमां केवळ हिंदी अनुवादवाळी आवृत्तिने मेळवीए तो चार आवृत्तिओ एण थई गणाय. आम एकंदर बार वर्षना गाळामां आ पुस्तकनी सात हजार नकलो प्रजामां पहोंची कहेवाय.

आवा विषम समयमां ज्यां अहिंसा अने सत्यना मार्ग तरफ प्रजानां मन डगमगतां देखाय छे अने ज्यारे लोको—भगवान महावीरना अनुयायी लोको पण त्यांसुघी य मानवा लाग्या छे के व्यवहारमां सत्य अने अहिंसानो मार्ग नहीं ज खाली शके, प तो मंदिरमां के सभामां बोली बताववानो मार्ग छे. पवे कपरे काले आ पुस्तकनी सात हजार नकलो बार वर्षना यगाळामां गई ते पुस्तकनुं अहोभाग्य ज कहेवाय.

सौधी प्रथम आवृत्ति वखते भाई मानमलजी गोलेच्छा (जोधवुर-खीचनवाळा) प आर्थिक सहायता आपी मने पोतानो ऋणी बनावेळ ते माटे ते भाईनुं नामस्मरण अवस्य करी लउं छुं.

पहेली आवृत्ति वखते हुं अमदावादमां, डा. भग-वानदासजी बनारसमां; आटलुं लांबुं अंतर होईने तेओ तत्काल प्रस्तावना लखी मोकले ए कठण हतुं, परंतु मारा उपरना निर्व्याज स्नेहने लीधे ए काम माई गुलाबचंद जैन (वर्तमानमां अध्यक्ष श्री महावोर भवन पुस्तकालय अने वाचनालय दिल्ली ६) सारी रीते प्रयास करीने एण वजावी शक्या छे एटले ए स्वजननुं एण नाम संकीर्तन अहीं जक्षर करी लडं छुं.

या उपरांत मारा स्नेही कवि मुनिश्री अमर-चंदजी, पंडित सुखलालजी, भाई दलसुखभाई (बनारस हिन्दु युनिवर्सिटी) तथा भाई शांतिलालजी (ज्यावर गुरुकुळ मुद्रणालय)नो पण था प्रवृत्तिमां मने जे सहकार मळयो छे ते भूली शकाय तेम नथी.

आ बधा महानुभावोनो पण हु जरूर ऋणा छुं.
गुजरात युनिवर्सिटीप आ पुस्तकने इन्टरआर्टना
प्राकृतभाषाना अभ्यासक्रममां योजेलुं छे ते माटे प संस्थानो तेम प संस्थाना संचालकोनो पण अहीं आभार मानवो जरूरी छे अने डा. भगवानदासजीप पण पोतानी प्रस्तावनामां प संस्थाने अभिनंदन पाठवेल छे.

छेल्ले भाई जमनालालजी जैन ('जैनजगत'

[११]

ना सहकारी संपादक) तथा आ पुस्तकना मूळ तथा हिन्दी अनुवादना मुद्रक भाई परमेष्ठीदासजी जैन (मालीक जैनेन्द्र प्रेसः लिलतपुरः उत्तरप्रदेश) प बन्ने महाशयोप आ पुस्तकना मुद्रणमां जे भारे दिलबस्पी बतावेल के ते माटे तेमनो बन्नेनो हुं सविशेष आभारी छुं.

अहीं आ बाबत खास जणावनी जोईप के जो आ बन्ने भाईओप पुस्तकना मुद्रण-संशोधन माटे दिल्लंबस्पी न लीधी होत तो मुद्राराक्षसना प्रभावने लीधे पुस्तकने अंते आपेल शुद्धिपत्रक केटलुं य लांबुं थई गयुं होत.

डां. भगवानदासजीप पोतानी प्रस्तावनामां जणावेळ छे के प्रस्तुत आवृत्तिना कागळ सारा नथी अने तेनुं समर्थक कारण पण पोते ज समजावेळ छे. तेम हुं पण अहीं आ वात नम्रपणे जणाववानी रजा ळउं छुं के प्रस्तुत पुस्तकमां मूळ गाथाओनुं अने अनुवादनुं मुद्रण मनपसंद नथी छतां महावीर वाणी प्रत्ये सद्भाव राखनारो वाचक वर्ग आ मुद्रण प्रत्ये पण उदारता दाखवी तेने वधावी छेशे प आशा अस्थाने नथी.

महावीरवाणीनी कायापलट

आगली बधी आवृतिओ करतां आ संस्करणमां जे विशेषता छे ते आ प्रमाणे छे:

[१२]

- १ महावीरवाणीनी तमाम प्राकृत गाथाओनो संस्कृत अनुवाद तेमना सळंग आंकडा आपीने पाछळ आपेल छे. जे वाचको हिन्दी नथी जाणता तेम ज प्राकृत पण नथी जाणता तेमने अर्थे श्री विनोबाजीए संस्कृत अनुवाद आपवानी स्वना करेली. ते प्रमाणे आ अनुवाद आपेल छे. तेमां क्यांय क्यांय संक्षित टिप्पण पण आपेल छे. संस्कृत अनुवादनी भाषा आम तो सरळ संस्कृत राखी छे छतां तेमां छांदस प्रयोगो पण मूळ प्राकृत भाषा साथे तुलना करी जोवानी दृष्टिए आपेला छे.
- र आगली आवृत्ति भोमां सौथी प्रथम आवृत्तिमां मूळ गाथाओ ३४५ हती, पछीनी आवृत्तिमां पंदरमा अशरणसूत्रमां छेल्ले एक गाथा वधारेली तेथी तेमां मूळ गाथाओ ३४६ थई. आ आवृत्तिमां कुल गाथाओ ३१४ छे एटले आगली आवृत्ति करतां आमांथी बत्रीश गाथाओ घटाडी छे तेनी वीगत आ प्रमाणे छे:

बीजा धर्मस्त्रमांथी चार गाथाओ घटाडी छे जे गाथाओ जूनी आदृत्तिमां पांचमी, छही, सातमी अने आटमी तथा अग्यारमी, बारमी अने तेरमी हती अर्थात् बीजा धर्मस्त्रमांथी कुले सात गाथाओ बोछी थई छे.

त्रीजा अहिंसासूत्रमांथी जूनी आतृत्तिमां जे

[१३].

२४मी अने २५मी गाथा तथा दसमा चतुरंगीय-सूत्रमांथी जुना प्रमाणे ९७मी अने ९८मी गाथा इती ते गाथाओ आमां ओछी करी छे.

पछी अगियारमा बीजा अप्रमादस्त्रमांथी जूनी बावृत्ति प्रमाणे १२७ थी १३५ सुधीनी पटले कुले अब गाथाओं ओछी करी छे.

चोवीरामुं विवादस्त्र आखुं ज काढी नाख्युं छे पटले पनी कुले १९ गाथाओ ओछी थई.

आम तो ७+२+२+९+१९ कुले ओगणचाळीश गाथाओ घटी छे पटले बधी मळोने ३०७ गाथाओ रहेवी जोईप पण २४मा विवादस्त्रने बदले जाति-मदनिवारणस्त्र नवुं ज गोठव्युं छे. तेनी गाथाओ कुले सात छे पटले ३०७×७ मळी आ आवृत्तिमां कुले ३१४ गाथा थई, आ जोतां जूनी आवृत्ति करतां आमांथी कुले ३२ गाथाओ घटी.

वासकोनी रुचि प्रत्यक्ष जीवन तरफ रहे अने प्रत्यक्ष जीवन ज भविष्यना जीवननो पायो छे ए माटे ए तरफ ज विशेष ध्यान खेंचाय ते दृष्टिने लक्ष्यमां राखी था आवृत्तिमां थोडीघणी वघघट करी छे.

वर्तमानमां आपणे जोईप छीप के तमाम धर्मा-वर्जनीओनुं ध्यान प्रत्यक्ष सृष्टि करतां परोक्ष सृष्टि तरफ घणुं वधारे छे. तेओ ईश्वरने नामे, मंदिरने नामे, देवदेवीओने नामे, धर्मनां मनातां कर्म- कांडोने नामे घणो घणो भोग आपे छे, घणो घणो त्याग करे छे अने पत्रुं बीजुं घणुं घणुं कष्ट सहन करे छे तेम छतां आपणुं वर्तमान जीवन सुखमय, संतोषमय, शांतिमय नथी बनी शकतुं. कुटुंबमां पवो ज विखवाद बाल्या करे छे अने समाजमां तथा राष्ट्रमां पण पवा ज हानिकारक विखवादो थया करे छे, नवा नवा वध्या करे छे. आपणुं छक्ष्य वर्तमान जीवननां शांति सुख संतोष अने वात्सल्य तरफ ज होय तो आवुं केम बनी शके ?

आ तरफ विशेष लक्ष्य खेंचाय माटे ज आ संस्करणमां थोडी कांटछांट करी छे भाई रांकाजीनी स्चना आ ज हकीकतने लक्ष्यमां राखीने कांटछांट माटे थपली हती पटले पण आ कांटछांट करवानुं गमी गयुं छे

आ महावीरवाणी आपणा प्रत्यक्ष जीवनमां सुख द्यांति संतोष अने वात्सब्य प्रेरनारी थाय प पक ज आकांक्षा छे.

महाधीरवाणीना जे वासको अजैन छे तेमने साह महावीरवाणीमां आवेलुं लोकतत्त्व सूत्र १९ मुं कांईक वधारे पडतुं पारिभाषिक लागे स्नहं छतां य ते द्वारा ते वासकोने जन प्रवसन विशे थोडी घणी माहिती जरूर मळशे एम मानीने तेने बदस्युं नथी.

जैन प्रवचनमां जन्मजातिसार्ने मृळथी ज स्थान

[१५]

नथी, खरुं कहेवामां आवे तो भगवान महावीरना धर्मचक प्रवर्तनना जे बीजा बीजा हेतुओ हता तेमां जनमजातिवादने मीटावी देवानो एण एक खास हेतु हतो ज. ए वातने लक्ष्यमां लाववा खातर २४ मुं जातिमदिनवारण सूत्र खास सांकळवामां आब्युं छे. ते बधी गाथाओ अने एने मळती बीजी बीजी अनेक गाथाओ उत्तराध्ययन सूत्र वगेरे अनेक सूत्रोमां भरी पडी छे परंतु ते बधीने बहीं न आपतां मात्र आचारांग अने सूत्रहतांग सूत्रमांथी थोडां वचनो वानगी रूपे अहीं गोठवेलां छे ते उपरथी वाचको जोई शकशे के जैन प्रवचनमां मूळथी ज जनम-जातिवादने जराय स्थान नथी एटलुं ज नहीं एण एनो विशेष विरोध भगवान महावीरे ज पोते करेलो छे.

दुःख अने खेदनी वात तो प छे के वर्तमानमां जेओ जैन धर्मना आचार्य कहेवाय छे तेओ पण हजी सुधी अस्पृद्यताने जाळवी रह्या छे अने केम जाणे ते तेमनो सदाचार न होय तेम पाळी रह्या छे. खरी रीते प रीतनुं वर्तन जैन प्रवचनथी तद्दन विरुद्ध छे, अहिंसानी दृष्टिप पण तद्दन अनुचित छे अने भगवान महावीरना वचनोथी तो प सदंतर वेगळुं छे प वात वर्तमान जैन उपदेशकोना अने तेमना अनुयायीओना खास ख्यालमां आवे माटे ज आ जातिमदनिवारण सूत्रने अहीं सांकळेलुं छे.

[१६]

प्रस्तुत पुस्तकमां श्रमण भगवान महावीरतुं एक सुंदर चित्र जरूरी लागतुं हुतुं तथा तेमनो मानवतानी दृष्टिप प्रामाणिक परिचय भापवानुं पण तेटलुं ज जरूरी जणातुं हुतुं छतां य आमांथी पेलुं चित्र मूकवानुं तो बनी शक्युं छे अने तेमनो परिचय आपवानुं हाल तुरत नथी बनी शक्युं ते माटे वाचको जरूर क्षमा आपशे पण निकटना भविष्यमां महावीरवाणीनो गुजराती अनुवाद मारे वाचको समक्ष रजु करवानो मनोरथ छे ते वखते आ परिचय आपवा जरूर प्रयास करवानुं धारी राख्युं छे.

उपरांत जे जे वचनो महावीरवाणीमां भावेलां छे तेवां ज वचनो बुद्धवाणीमां अने वैदिकवाणीमां—उपनिषदो जने महाभारत छगेरेमां—सुद्धां मळी आवे छे ते अंगेनुं तुलनात्मक लखाण पण आवाणीनी प्रस्तावनामां जरूरी छे अने डा. भगवानदासजीप पोतानी प्रस्तावनामां आ वचनो विशे जे एक बीजी सूचना करेली छे ते विशे पण खास लखवा जेवुं छे. तेमनी सूचना प हती के आ वचनो भगवान महावीरे जे जे प्रसंगे कहेलां होय ते तमाम प्रसंगोवाळी टूंकी नोंघ ते ते वचनो साथे आपी देवी जोईप जेथी आ वचनीने वांचतां ज तेमनो आशय हदयमां जडाई जाय अने आ वचनो वधारे असरकारक बने.

[29]

का बन्ने मुद्दाओं विशे पण हवे पछी लखवानी करपना करी हाल तो मूकी छांडी छे

आ उपरांत केटलांक वचनोनों आशय सम-जाववा सारु थोड़ं विवेचन करवुं जरूरी छे. जेमके वासला तरीके-धर्मसूत्रमां आवेली चोथी गाथानो अर्थ आ प्रमाणे छेः

"जरा अने मरणना वेगथी घोघवंघ घहेता प्रवाहमां तणाता प्राणीओने माटे घर्म ज बेटरूप छे अने घर्म ज शरणरूप छे."

आनो अर्थ कोई एम न समजी बेसे के धर्म कोई एण देहधारीनां जरा अने मरणने अटकाबी शके छे. जेम जन्मबुं आएणे वश नथी तेम जरा अने मरण एण तमामने माटे स्वामाधिक छे. मोटा मोटा ज्ञानीओ, संतो, तीर्थंकरो अने चक्रवर्तीओ खरा अर्थमां धर्मावलंबी थई गया एण तेओ घरडा थतां अटक्या नहीं तेम मरतां एण अटक्या नहीं. मात्र तेमबुं धर्मावलंबन तेओने शांतिथी, संतोषथी अने अविषमभावे जीधन जीववामां खप लागतुं अने धर्मांवलंबननो खरो अर्थ एण ए ज छे.

जे विकार स्वामाविक छे तेने कोई अटकावी शके ज नहीं मात्र ते विकारों थतां आपणने कदाच अज्ञानताथी अशांति असंतोष उपजे तो धर्मावळंबनथी तेमनुं समाधान थाय छे. आ अर्थ 'धर्म ज शरणरूप छे⁷ ते वाक्यने बरोबर छे. आ ज रीते आ घचनो विशे आवां टिप्पणो करघानी जरूर छे.

संपादकीय कथनमां हवे आधी वधारे लखतुं आवश्यक नथी.

आ महावीरवाणी तमाम प्राणीने, तमाम भूतोने, तमाम जीवोने अने तमाम सत्त्वाने सुखंकर, संतोष-कर अने समाधानकर नीवडो पत्री भावना भाषी विरमुं छुं.

मूळ अने अनुवाद पूरो थया पछी पाछळ आपेलो बधो भाग अमदावादमां शारदा मुद्रणालये छापेल छे. तेना मालीक अने व्यवस्थापके आ छाप-काम घणुं ज सुंदर थाय तेम पूरती काळजी राखी छेते, ए काम ज कही आपे छेः पटलुं ज नहीं चित्रनी पसंदगी पण श्रीबालाभाईप पोते घणी काळजीथी करी छे. आ बधा मारा अंगत स्वजनो छे छतां य आ मुद्रणालयना कामने विशेष प्रसिद्धि मळे प दृष्टिप ज अहीं आ प्रेसना नामनुं सास संकीर्तन करूं छुं.

ता. ९-७-५३ १२/ब भारती निवास सोसायटी अेलिसब्रिज**ः अमदावाद-६**

वेचरदास दोशी

महावीर और उनकी वाणी

बुद्ध और महावीर भारतीय आकाश के दो उज्जवल नक्षत्र हैं. गुरु शुक्र के समान तेजस्वी और मंगल-दर्शन. बुद्ध का प्रकाश दुनिया में व्यापक फैल गया. महावीर का प्रकाश भारत के हृदय की गहराई में पैठ गया. बुद्धने मध्यम-मार्ग सिखाया. महावीर ने मध्यस्थ-दृष्टि दी. दोनों द्याल और अहिंसा—धर्मी थे. बुद्ध बोध-प्रधान थे, महावीर वीर्यवान तपस्वी थे।

बुद्ध और महावीर दोनों कर्मवार थे. लेखन-वृत्ति उनमें नहीं थी. ये निर्ग्रंथ थे. कोई शास्त्र रचना उन्होंने नहीं की. पर वे जो बोलते जाते थे, उसीमें से शास्त्र बनते थे. उनका बोलना सहज होता था. उनकी बिखरी हुई वाणी का संग्रह भी पीले से लोगों को एकत्र करना पड़ा.

बुद्ध वाणी का एक छोटासा सारभूत संग्रह, धम्मपद के नाम से दो हजार साल पहिले ही हो चुका था, जो बौद्ध-समाज में ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया में भगवद्गीता के समान प्रचलित हो गया है. महावीर की वाणी अभी तक जैनों के आगमादि प्रंथों में, बिखरी पड़ी थी. उसमें से चुन करके, यह एक छोटासा संग्रह, आत्मार्थियों के उपयोग के लिये श्री रिषभदासजी की प्रेरणा से प्रकाशित किया गया है. वैसे तो इस पुस्तक की यह तीसरी आवृत्ति है. पर यह पुनर्मुद्रण नहीं है, बल्कि परिवर्धित आवृत्ति है जिसमें अधिक व्यापक दृष्टिसे संकलन हुआ है. मेरे सुझाव पर इसमें मूल वचनों के संस्कृत रूपांतर भी दिये हैं. उससे महावीरवाणी समझने में सुलभता होगी।

धम्मपद काल-मान्य हो चुका है. महावीर-वाणी भी हो सकती है, अगर जैन-समाज एक विद्वत्-परिषद के जिरये पूरी छानबीन के साथ, वचनों का और उनके क्रम का निश्चय करके, एक प्रमाणमूत संग्रह लोगों के सामने रक्खे. मेरा जैनसमाज को यह एक विशेष सुझाव है. अगर इस सूचना पर अमल किया गया तो, जैन विचार के प्रचार के लिये, जो पचासों कितावें लिखी जाती हैं, उनसे अधिक उपयोग इसका होगा.

ऐसा अपौरुषेय संग्रह जब होगा तब होगा, पर तब तक पौरुषेय-संग्रह, व्यक्तिगत प्रयत्न से, जो होंगे वे भी उपयोगी होंगे। "साधक सहचरी" नाम से ऐसा ही एक संग्रह श्री संतबालजी का किया हुआ, प्रकाशित हुआ है. यह दूसरा प्रयत्न है. मैं चाहता हूं कि केवल जैन समाज ही नहीं, पर चित्त-शुद्धि की चाह रखनेवाले, जो जैन संप्रदाय के नहीं हैं वे भी, इसका चिंतन मनन करेंगे.

पढ़ाव छपरी (बिहार) ३०-३-५३ - विनोबा

[२१]

में उन्हींका काम कर रहा हूं

"महावीर वाणी मुझे बहुत ही प्रिय लगी है. संस्कृत छाया दे रहे हो उससे उसे समझने में सहस्रियत होगी. भाज तो में बुद्ध और महाबोर की छत्र छाया में उन्हींके प्यारे बिहार में घूम रहा हूं और मानता हूं कि उन्हीं का काम मैं कर रहा हूं. इन दिनों 'धम्मपद 'की पुस्तक मेरे साथ रहती है. जब महावीर वाणी का आपका नया संस्करण निकलेगा तव वह भी रखूंगा. पढ़ने के लिए मुझे समय मिले या न मिले, कोई चिंता नहीं. ऐसी चीजें नजदीक रहीं तो उनकी संगति से भी बहुत मिल जाता है. वैसे पहेले महावीर-वाणी मैं देख चुका हूं. फिर भी प्रिय वस्तु का पुनर्दर्शन प्रियतर होगा. आजकल सैकड़ों पुस्तकों की हर भाषामें भरमार हो रहीं है. अगर मेरी चले तो बहुत से लेखकों को मैं खेती के काम में लगाना चाहूंगा और गीता, धम्मपद, महावोर-बाणी जैसी चंद किताबों से समाजको उज्जीवन पहुँचाऊँगा।*

पड़ाव : अंबा (गया)

— विनोबा

११-११-५२

^{*} ऊपरकी पंक्तियां रांकाजीको लिखे गए एक पत्रसे ली गई है जो उन्होंने 'महावीर-वाणी ' पुस्तकके विषयमें लिखी थीं। [२२]

महावीर वाणी के तृतीयसंस्करण की प्रस्तावना

अध्यापक श्री वेचरदास जीवराज दोशीजी का पत्र, ति. १५-६-१९५३ ई. का मुझे ति. १८-६-'५३को मिला, और नये संस्करणके छपे फ़र्में भी मिले। द्वितीय को अपेक्षा इसमे जो परिवर्तन किया गया है, अर्थात कुछ अंश छोड़ दिया है, कुछ बढ़ाया है, उसकी चर्चा, श्रीजमनालालजी जैनने अपने "पुनश्व" शीर्षकके निवेदनमे, किया है; तथा श्रीवेचरदासजीने इक्त पत्रमे अधिक विस्तार से किया है; फलतः, प्रथम और द्वितीयमे ३४५ तथा ३४६ गाथा थीँ, इसमे ३१४ हैँ। ' जातिमदनिवारणसूत्र ' जो बढ़ाया है वह बहुत ही अच्छा, शिक्षाप्रद, समयोचित, आवश्यक, समाजशोधक सूक्त है । यदि अन्य प्रमुख जैनाचार्योंकी उक्तियाँ, इसकी टीकाके रूपमे इसके 'परिशिष्ट ' के रूपमें, नहीं तो चौथे संस्करणमें, रख दी जायँ तो और अच्छा हो; यथा रविषेण (५ वीँ राती)के 'पदा बरित'मे,

[२३]

"मनुष्यजातिरेकैव, जातिनामोक्सवोक्सवा, वृत्तिमेदाद् हि तद्मेदात् चातुर्वण्येमिहाऽश्नुते। ब्राह्मणाः वतसंस्कारात्, क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्, वणिजोऽर्थार्जनात् न्यायात्,शृद्धाः न्यग्वृत्तिसंश्रयात्।"

तृतीय संस्करण का एक और श्लाघ्य विशेष गुण यह है कि प्रत्येक श्लोकके नीचे, उस प्राचीन मूल प्रंथका संकेत कर दिया है जिसमे वह मिलता है, यथा 'उत्तराध्यनसूत्र' 'दश-वैकालिकसूत्र', आदि। एक और कार्य, आगामी संस्करंगाँ मे कर्तन्य है; प्रसिद्ध है कि बुद्धदेवने 'धम्मपद'की प्रत्येक गाथा विशेष विशेष अवसर पर कही; उन अवसरों के वर्णन सहित 'घम्मपद'के कोई कोई संस्करण छपे हैं"; प्रायः महावीरस्वामीने भी ऐसे अवसरों पर गाथा कही होंगी; उनको भी छापना चाहिये। यह रीति इस देश की बहुत पुरानी है; अति प्राचीन इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत, भागवत आदि मे, अध्यात्मशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजशास्त्र, ब्रह्मविद्याके भी, गूढ सिद्धांत, आख्यानकेँ कथानकैँकी छपेट मे कहे गये हैँ, जो उदाहरणो का काम देते हैं"; इस प्रकार से, रोचकता के कारण, सिद्धांत ठीक ठीक समझ में भी आ जाते हैं" और स्मृति में गड़ जाते हैं", कभी भूलते नहीँ।

पुस्तकके अंतमें सब गाथाओंका संस्कृत रूपांतर छाप

दिया है, यह भी बहुत उत्तम काम किया है। कालके प्रभा-वसे, महावीरके समयकी प्राकृत भाषा (यथा उनके समकालीन बुद्धकी पाली) छप्त हो गई है, किंतु संस्कृत उनसे सहसाँ वर्ष पहिले से आज तक भारत में पड़ी, समझी, और विद्वन्मंडली में कुछ कुछ बोली भी जाती है: अतः इस संस्करणका, उक्त संस्कृत अनुवादके हेतु, उस मंडलीमें अधिक प्रचार और आदर होगा, विशेष कर भारतके उन प्रांतीँ मे जहां हिन्दी अभी तक समझी नहीं जाती है, यद्यपि भारतके नये संविधान मे उसे 'राष्ट्रभाषा' घोषित कर दिया है। स्मरणीय है कि महावीर निर्वाणके कुछ शतियाँ बाद, जिनानुयायी धुरंघर प्रकांड विद्वा-नोने प्राकृतभाषाका प्रयोग छोड़ दिया; क्योंकि प्राकृत भाषाएँ नित्य बदलती रहती हैं", यथा कालिदासादिके नाटकैँकि समय की आठ प्राकृतौँ मे से एक का भी व्यवहार आज नहीँ है; इन विद्वानोने अपने रचे ग्रंथाँ को चिरजीविता देने के लिये संस्कृतमें लिखाः यथा, उमास्वामी (द्वितीयशताब्दी ई०)ने नितांत प्रामा-णिक 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र', जिसे दिगम्बर खेताम्बर दोनौँ ही मानते हैं"; अकलंकने 'राजवार्तिक ' नामकी टीका 'तत्त्वार्था-घिगमसूत्र' पर; 'कलिकालसर्वज्ञ' राजगुरु हेमचंद्राचार्य (१२वीँ शती)ने 'प्रमाणमोमांसा', 'हैम-बृहद्भिधान' नामक संस्कृत शब्दैँ। का कोष, तथा अन्य कई विशालकाय प्रंथ; हरिभद्र (९वीँ)ने षड्दरीनसमुचय'; समंतभद्र (६वीँ)ने 'आप्तमीमांसा'; इति प्रभृति ।

मुझे यह त्रुटि जान पड़ती है कि इस नये संस्करण का काग़ज वैसा अच्छा नहीं है जैसा प्रथम संस्करण का था। क्या किया जाय ? समयके फेरसे सभी वस्तुओं के मूल्य में अतिवृद्धि, एक ओर; पुस्तक इतनी महर्घ न हो जाय कि अल्पवित्त सज्जन क्रय न कर संकें, दूसरी और; इन दो कठिनाइयाँ के बीच ऐसा करना पड़ा।

दूसरा खेद मुझे यह है की इस श्रेष्ठ ग्रंथ का प्रचार बहुत कम हुआ। सन् १९५१की जनगणना में, जैनो की संख्या, स्थूल अंकों में, समग्र भारत में १३००००० (तेरहलाख)थी; सबसे अधिक बंबई राज्य में, ५७२०००; फिर राजस्थान में, ३२८०००; सौराष्ट्र में, १२४०००; मध्यभारत में, १०००००; उत्तर प्रदेशमें, ९८०००। तेरहलाख की संख्या प्रायः दो लाख परिवारों में बँटी हुई समझी जा सकती है। जैन परिवार प्रायः सभी साक्षर होते हैं। यदि दो कुलोंक बीच में भी एक प्रति रहें तो एक लक्ष प्रतियाँ चाहिये। सो, पहिले संस्करण की दो सहस्र प्रतियां छपीँ; स्यात् दूसरेकी मी

इतनी ही; इस तीसरे की भी प्रायः इतनी छपैँ मी। यह संख्याः कथमपि पर्याप्त नहीँ है ।

छः वर्षे बाद, मत अप्रैलमास मे, विशेष कार्यवश, मुझे कलकत्ता जाना पड़ा। वहाँ, कुछ जैन सज्जनोके निर्वधसे २७ अप्रैलको, सुन्दर और विशाल 'जैन उपाश्रयभवन 'मे महा-वीरजयंतीके समारोहका प्रारंभ, एक प्रवचनसे करनेके लिये गया। प्रायः बारह सौ सज्जन और देवियाँ एकत्र थीँ। मैने पूछा कि 'महावीरवाणी' आप छोगीँने देखा है ? किसीने भी 'हाँ' नहीं कहा । मुझे बहुत आश्चर्य हुआ । कलकत्तामें प्रायः पाँच सहस्र जैन परिवार, जिन मे पचीस सहस्र प्राणी हैं।गे, निबास करते हैं", ऐसा मुझे बतलाया गया । परमेश्वरकी दयासे और अपनी न्यापारकुशलता और उत्साहसे, जैन सज्जन जैसे साक्षर हैं वैसे बहुवित्त धनी और कोई कोई कोटिपति भी हैं; यही दशा बंबई, राजस्थान, सौराष्ट्र आदि प्रान्तेँँकी है; यदि उनके पास कोई प्रामाणिक सुख्यात सज्जन छपे परिपत्र छेकर जायँ तो निश्चयेन लाखेँ। रुपये इस उत्तम धर्मकार्यके लिये सहज में मिल जायँ, और एक लाख प्रतियाँका, नहीं तो कमसे कम पचास सहस्र का, उत्तम संस्करण, अच्छे पृष्ट कागुज पर और अच्छी पृष्ट कपड़े की जिल्द का, छप जाय, जैसा प्रथम

[२७]

संस्करण का था जो सस्ता—साहित्य—मंडल, नई दिल्ली से निकला था। जैन समाजने अर्वो रुपये सुंदरसे सुन्दर मंदिरों और मूर्तियाँ पर न्यय किया है; महावीर जिनके उपदेश आदेशके प्रचारके लिये लाखाँ रुपये न्यय करना उसके लिये क्या कठिन है!

श्रीबेचरदासजीके, ति. २९-६-१९५२के पोस्टकार्डसे विदित हुआ कि गुजरात युनिवर्सिटीने, प्राकृतभाषा के पाठच-क्रममें, 'इन्टर' वर्गके लिये, महावीरवाणी को रख दिया है; यह बहुत सभाजनीय अभिनंदनीय काम किया है; इससे भी ग्रंथके प्रचार मे बहुत सहायता मिलेगी।

सौर १९ भाषाढ, २०१० वि०) (डाक्टर) भगवान्दास (जूलाई, ३ १९५३ ई०)) "शांतिसदन", सिम्रा, **बनारस**-२

महावीर-वाग्गी

: 8:

मंगल-सुत्तं

नमोक्कारो

नमो ऋरिहंताएं।

नमो सिद्धाणं।

नमो आयरियाणं।

नमो उवज्भायाणं।

नमो लोए सन्वसाहूण।

एसो पंच नमुकारो, सन्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सन्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥

[पंचप्रति २ सू २ ३]

मंगलं

श्रिरिहंता मंगलं।

सिद्धा मंगलं।

साहू मंगलं।

केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं।

[पंचप्रति० संथारा० स्०]

: १ :

मङ्गल-सूत्र

नमस्कार

श्रहन्तों को नमस्कार;
सिद्धों को नमस्कार;
श्राचार्यों को नमस्कार;
उपाध्यायों को नमस्कार;
क्षोक (संसार) में सब साधुश्रों को नमस्कार।
—यह पञ्च नमस्कार समस्त पापों का नाश करनेवासा है,
सब मङ्गलों में प्रथम (मुख्य) मङ्गल है।

मङ्गल श्राहंन्त मङ्गल हैं; सिद्ध मङ्गल हैं; साधु मङ्गल हैं; केवली-प्ररूपित श्रर्थात् सर्वज्ञ-कथित धर्म मङ्गल हैं।

लोगुत्तमा

श्ररिहंता लोगुत्तमा।

सिद्धा लोगुत्तमा।

साहू लोगुत्तमा।

केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

[पंचप्रति० संथारा० सू०]

सरणं

श्रारेहंते सरगं पवजामि ।

सिद्धे सरगां पवजामि ।

साहू सरगां पवजामि ।

केवलिपन्नतां धम्मं सरणं पवज्ञामि ।

[पंचप्रति० संथोरा० सू०]

लोकोत्तम

श्रह-त जोकोत्तम (संसार में श्रेष्ठ) हैं; सिद्ध लोकोत्तम हैं; साधु लोकोत्तम हैं; केवली-प्ररूपित धर्म लोकोत्तम हैं।

शरण

श्वर्हन्त की शरण स्वीकार करता हूँ; सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ; साधुश्रों की शरण स्वीकार करता हूँ; कैवली-प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करना हूँ।

:२:

धम्म~सुत्तं

(?)

धम्मो मंगलमुक्किट्टं ऋहिंसा संजमो तवो। देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥ १॥

दिशः २ ३० १ गां० १

(२)

श्रहिंस सच्चं च श्रतेएगं च,

तत्तो य बम्भं अपरिगाहं च।

पडिवज्जिया पंच महब्बयागि.

चरिजा धम्मं जिएादेसियं विदू॥२॥

| उत्तराट घट २१ गा० १२ |

(३)

पारो य नाइवाएज्ञा, श्रदिन्नं पि य नायए।

साइयं न मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमस्रो ॥३॥

(8)

जरामरणवेगेगां, वुङ्भमाणाण पाणिगां।

धम्मो दीवो पइद्वा यु, गई सरणमुत्तमं ॥ ४॥

ि उत्तरा० अ० २३ गा० ६८ ो

िस्० श्रु० १ ऋ० म गा० १६]

: २:

धर्म-स्त्र

(3)

धर्म सर्वश्रेष्ठ मङ्गल है।

(कौन-सा धर्म ?) श्रहिंसा, संयम श्रौर तप ।

जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

(२)

श्रिहंसा, सत्य, श्रस्तेय, ब्रह्मचर्य श्रीर श्रविश्रह—इन पांच महावतों को स्वीकार करके बुद्धिमान मनुष्य जिन-द्वारा उपदिष्ट धर्म का श्राचरण करे।

(३)

छोटे-बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा न करना; श्रदत्त (बिना दी हुई बस्तु) न लेना, विश्वासघाती श्रसत्य न बोलना-यह श्रात्मनिप्रदी सत्पुरुषों का धर्म है।

(8)

जरा श्रीर मरण के वेगवाले प्रवाह में बहते हुए जीवों के लिये धर्म ही एक-मात्र द्वीप, प्रतिष्ठा, गति, श्रीर उत्तम शरण है।

(X)

जहां सागडिस्रो जाणं, समं हिचा महापहं। विसमं मगामोइएणो, स्रक्खे भगामिम सोयई॥४॥

[उत्तरा० घ० १ गा० १४]

(\ \ \)

एवं धम्मं विउक्कम्म, त्र्राहम्मं पहिवज्जिया । बाले मच्चुमुहं पत्ते, त्र्रावस्वे भग्गे व सोयई ॥ ६॥

[उत्तरा० घ्रा० १ गाँ० १४]

(७)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पिंडनियत्तई । श्रहम्मं कुणमाणस्स, श्रफला जन्ति राइश्रो ॥ ७॥

[उत्तराः श्रः १४ गा० २४] (⊏)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पहिनियत्तई। धन्मं च कुणमाणस्स, सकता जन्ति राइस्रो॥ ।। ।।

[उत्तरा० श्र**० १४ गा० २**४]

जरा जाव न पीडेइ,, वाही जाव न वड्टइ। जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥ ६॥

दिशा अ० म गा ३६]

()

जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान जान-बूक्तकर साफ-सुथरे राज-मार्ग को छोड़ विषम (ऊँचे-नीचे, ऊबड़-खाबड़) मार्ग पर जाता है थ्रौर गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है—

(६)

उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य धर्म को छोड़ श्रधर्म को प्रहण कर, श्रन्त में मृत्यु के मुँद में पड़कर जीवन की धरी टूट जाने पर शोक करता है।

(v)

जो रात श्रोर दिन एक बार श्रतीत की श्रोर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं श्राते; जो मनुष्य श्रधर्म (पाप) करता है, उसके वे रात-दिन विल्कुल निष्फल जाते हैं।

(=)

जो रात श्रीर दिन एक बार श्रतीत की श्रीर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं श्राते; जो मनुष्य धर्म करता है उसके वे रात श्रीर दिन सफल हो जाते हैं।

(3)

जबतक बुढ़ाया नहीं सताता, जबतक ब्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जबतक इन्द्रियाँ हीन (अशक्त) नहीं होतीं, तबतक धर्म का (१०)

मरिहिसि रायं ! जया तया वा,

मणोरमे कामगुणे विहाय ।
इक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं,

न विजाई अञ्जमिहेह किंचि ॥ १०॥

[उत्तरा० अ० १४ गा० ४०]

(१०)

हे राजन् ! जब आप इन मनोहर काम-भोगों को छोड़कर बर-सोक के यात्रो बनेंगे, तब एक-मात्र धर्म ही आपकी बा करेगा । हे नरदेव ! धर्म को छोड़कर जगत् में दूसरा कोई बारका करने वाला नहीं है ।

ऋहिंसा-सुत्तं

ં (११)

तित्थमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं। श्रिहिंसा निडणा दिहा, सन्वभूएसु संजमो॥१॥ [दश० १००६]

(१२)

जावन्ति लोए पाणा, तसा ऋदुवा थावरा । ते जाणमजाणं वा, न हणे नो वि घायए ॥२॥

[दश अ०६ गा० १७]

(१३)

सयं तिवायए पाणे, ऋदुवऽन्ने हिं घायए । हस्पन्तं वाऽसुकाणाइ, वेरं वड्डइ ऋषणो ॥३॥

[सूत्रः श्रु०१ स्र०१ रा०३]

(88)

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च । नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव॥४॥ [उत्तराव अव म गाव १८]

ऋहिंसा-सूत्र

(११)

भगवान महावीर ने श्रदारह धर्म-स्थानों में सबसे पहला स्थान श्रिहिंसा का बतलाया है।

सब जीवों के साथ संयम से व्यवहार रखना श्रहिंसा है; वह सब सुखों को देनेवाली मानी गई है।

(१२)

संसार में जितने भी त्रस श्रीर स्थावर प्राची हैं उन सब को, जान श्रीर श्रनजान में न स्वयं मारना चाहिए श्रीर न दूसरों से मरवाना चाहिए।

(१३)

जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है श्रीर हिंसा करनेवालों का श्रनुमोदन करता है, वह संवार में श्रपने लिये वैर को बढ़ाता है।

(88)

संसार में रहरेवाले त्रस श्रीर स्थावर जीवों पर,मन से, वचन से श्रीर शरीर से,-किसी भी तरह दंड का प्रयोग न करना चाहिए। (१४)

सब्बे जीबा वि इच्छंति, जीविडं न मरिक्रिडं। तम्हा पासिबहं घोरं, निगांथा वज्जयंति रां॥ ४॥ [वशः श्रः ६ गाः ११]

(१६)

अडमत्थं सब्बद्धो सब्बं दिस्स, पाणे पियायए । न हुर्णे पाणिगो पाणे, भयवेरास्त्रो उवरए ॥ ६॥ [उत्तरा० घ० ६ गा० ७]

(१७)

सन्वाहिं ऋगुजुत्तीहिं, मईमं पडिलेहिया। सन्वे ऋकत्तदुक्खाय, ऋऋो सन्वे न हिंसया॥ ७॥ [सूत्रः श्रु० १ क्र० ११ गा० ६]

(१८)

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण । श्रहिंसासमयं चेव एयावन्तं वियाणिया ।। ⊏ ।। | सूत्र० श्रु० । अ० । । गा० ।०]

(१४)

हसी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसीजिए निर्धान्थ (जैन मुनि) बोर प्राणि वभ का सर्वथा परित्याग करते हैं।

(१६)

भय और वैर से निवृत्त साधकको, जीवन के प्रति मोइ-ममता रखनेवाले सब प्राणियों को सर्वत्र अपनी ही आहमा के समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करनी चाहिए।

(१७)

बुद्धिमान् मनुष्य छुद्दों जीव-निकायों का सब प्रकार की युक्तियों से सम्यक्ज्ञान प्राप्त करे श्रीर 'सबी जीव दुःख से घबराते हैं '—ऐसा जानकर उन्हें दु:ख न पहुँचाये।

(१८)

ज्ञानी दोने का सार ही यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे ! — इतना ही श्रदिसा के सिद्धान्त का ज्ञान विकेट हैं। यही श्रदिसाका विज्ञान है।

(38)

संबुड्भमार्गे उनरे मईमं, पावाउ अप्पार्ग निवदृएजा ।

हिंसप्यसूयाइं दुहाइं मत्ता,

वेरानुबन्धीिण महब्भयािण ॥ ६॥

[सूत्रव श्रु**० १** श्रव १६ गा**०** २१] (२०)

समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे। पागाइवायविरई, जावजीवाए दुक्करं॥१०॥

[उत्तराः श्र० १६ गा० २४]

(38)

सम्यक् बोध को जिसने प्राप्त कर लिया वह बुद्धिमान् मनुष्य हिंसा से उत्पन्न होनेवाले वैर-वद्ध क एवं महाभयंकर दुःखों को जानकर प्रपने को पाप-कर्म से बचाये।

(२०)

संसार में प्रत्येक प्राणी के प्रति—िकर वह शत्रु हो या मित्र समभाव रखना, तथा जीवन-पर्यन्त छोटी-मोटी सभी प्रकार की दिसा का त्याग करना—वास्तव में विदुत

सच्च–सुत्तं

(२१)

निच्चकालऽप्पमत्तेगं, मुसावायिवविष्जगं । भासियव्यं हियं सच्चं, निच्चाऽऽउत्तेग दुकरं ॥१॥ [उत्तराः घ० १६ गा० २६] (२२)

श्चरपराष्ट्रा परद्वा वा, कोहा वा जइ वा भया । हिंसगं न मुसं बूया, नो वि श्चन्न वयावए ॥२॥ [दश॰ श्च॰ ६ गा० १२]

(२३)

मुसावात्र्यो य लोगम्मि, सन्त्रसाहूहिं गरहित्र्यो । स्त्रविस्सासों य भूयागं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥३॥ [दश**ः** प्रट ६ गाट १३]

(28)

न लवेज्ज पुट्टो सावज्जं, न निरहं न मम्मयं । स्त्रप्यसहा परद्वा वा, उभयस्सन्तरेस वा ॥४॥ [उत्तरा० ८०१ सा० २४]

सत्य-सूत्र

(२१)

सदा श्र-प्रमादी श्रीर सावधान रहकर, श्रसत्य को त्याग कर, द्वितकारी सत्य वचन ही बोखना चाहिए। इस तरह सत्य कोखना बड़ा कठिन दोता है।

(२२)

श्रापने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए क्रोध से अथवा अब से—िकसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाला असस्य वचन न तो स्वयं बोलना, न दूसरों से बुकवाना चाहिन्।

(२३)

मृषावाद (श्रसत्य) संसार में सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित द्वराया गया है श्रीर सभी प्राणियों को श्रविश्वसनीय है; इसकिए मृथावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

(२४)

श्रपने स्वार्थ के जिए, श्रथचा दूसरों के जिए, दोनों में से स्ती के भी जिए, पूछने पर पाप-युक्त, निर्थक एवं मर्भ-भेदक किन नहीं बोलना चाहिए। (२४)

तहेव सावज्ञऽगुमोयगी गिरा, स्रोहारिगी जा य परोवघायगी। से कोह लोह भय हास माणवो, न हासमागो वि गिरं वएजा।।४॥

[दश० म्र० ७ गा० ४४]

(२६)

दिट्टं मियं श्रसंदिद्धं, पहिपुरगां वियंजियं । श्रयंपिरसगुटिवगां, भासं निसिर श्रत्तवं ॥६॥

[दशा० अर्थ म गा० ४६]

(२७)

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया, तीसे य दुह्वे परिवज्जए सया ।

छसु संजए सामगिए सया जए, वएन्ज बुद्धे हियमागुलोमियं ॥७॥

[दश० अ०० गा० ४६]

(平)レ

सयं समेच्च श्रदुषा वि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हिययं पयागां।

जे गरहिया संशियागापत्रोगा,

न तागि सेवन्ति सुधीरधम्मा ॥६॥

[सूत्र० श्रु० १ घ० १३ गा० १६]

(२४)

श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी श्रीर दूसरों को दुःख पहुँचानेवाली वाणी न बोले।

श्रोष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय श्रौर हास्य से भी पापकारी वासी न बोले। हँसते हुए भी पाप-वचन नहीं बोजना चाहिए।

(२६)

श्रातमाथीं साधक को दृष्ट (सत्य), परिसित, श्रसंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट-श्रनुभूत, वाचालता-रहित, श्रीर किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोबना चाहिए।

(२७)

भाषा के गुण तथा दोषों को भली-भाँति जानकर दूषित भाषा को सदा के लिए छोड़ देनेवाला, षट्काय जीवों पर संयत रहनेवाला, तथा साध्य-पाक्षन में सदा तत्पर बुद्धिमान साधक केवल दितकारी मधुर भाषा बोले।

(국도)

श्री प्रदेश स्वयं जानकर श्रथका गुरुजनों से सुनकर प्रजा का हित करनेवाले धर्मका उपदेश करे। जो श्राचरण निन्दा हों, निदानवाले हों, उनका कभी सेवन न करे। (35)

सवक्कसुद्धि समुपेहिया मुग्गी,

गिरं च दुट्टं परिवज्जए सया ।

मियं ऋदुट्टं ऋगुजीइ भासेए,

सयाग् मज्मे लहई पसंसग् ।।।।

[दश० श्र० ७ गा० ४४]

(३०)

तहेव काणं काणे ति, पंडमं पंडमे ति वा । वाहियं वा वि रोगि ति, तेणं चोरे ति नो वए ॥१०॥ [दश० ४०० गा० १२]

(३१)

वितहं वि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो । तम्हा सो पुट्टो पावेग्एं, किं पुण जो मुसं वए ? ॥११॥ [दश• भ्र० ७ गा० ४]

(३२)

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूत्रोवघाइणी। सच्चा विसान वत्तव्वा, जन्नो पावस्स त्रागमो ॥१२॥ [दश० ॥० ७ ॥० ११]

(२६)

विचारवान मुनि को वचन-शुद्धि का भली-भांति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदा के लिए छोड़ देनी चाहिए और खूब सोच-विचार कर बहुत परिमित और निर्दोष वचन बोबना चाहिए। इस तरह बोलने से सत्पुरुषों में महान् प्रशंसा प्राप्त होती है।

(३०)

काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी श्रीर चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा नहीं कहना चाहिए ! (क्योंकि इससे उन व्यक्तियों को दुःख पहुँचता है।)

(३१)

जो मनुष्य भूलसे भी मूलतः श्रसत्य, किन्तु ऊपर से सत्य मालूम होनेवाली भाषा बोल उठता है, श्रीर वह भी पापसे श्रद्धता नहीं रहता, तब भना जो जान-बूक्तकर श्रसत्य बोलता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या!

(३२)

जो भाषा कठोर हो, दूसरों को भारी दुःख पहुँचानेवाली हो—वह सत्य ही क्यों न हो—नहीं बोलनी चाहिए / क्यों कि उससे पाप का श्रास्त्रव होता है।

.: 义:

श्रतेगाग-सुत्तं

(३३)

चित्तमंतमचित्तं वा, ऋष्यं वा जइ वा बहुं। दंतसोहरामित्तं पि, उगाइं से ऋजाइया ॥१॥

[दशा० द्या० ६ गा० १४]

(38)

तं ऋष्यणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावण परं । ऋज्ञं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥२॥

[दश० अ० ६ गा० १४]

(秋)

उड्ढं ऋहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाएा। हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता, ऋदिन्नमन्न सु य नो गहेज्जा ॥३॥

> [सूत्र० अु० १ घ्र० १० गा० २] (३६)

तित्र्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसति श्रायसुद्दं पडुच्च । जे लूसए होइ श्रदत्तहारी, ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि ॥४॥

[स्त्र अ ० १ अ० १ उ० १ गा० ४]

श्रस्तेनक-सूत्र

(३३-३४)

पदार्थ सचेतन हो या अचेतन, अल्प हो या बहुत श्रीर तो क्या, दाँत कुरेदने की सींक भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हो उसकी श्राज्ञा लिये बिना पूर्ण-संयमी साधक न तो स्वयं प्रहण करते हैं, न दूसरों को प्रहण करने के लिये प्रेरित करते हैं, श्रीर न प्रहण करने वालों का श्रनुमोदन ही करते हैं।

(३४)

ऊँची, नीची श्रौर तिरछी दिशा में जहाँ कहीं भी जो त्रस श्रौर स्थावर प्राणी हों उन्हें संयम से रह कर श्रपने हाथों से, पैरों से,—किसी भी श्रंग से पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिये। दूसरों की निनादी हुई वस्तु भी चोरी से प्रहण नहीं करनी चाहिए।

(३६)

जो मनुष्य श्रपने सुख के लिये त्रस तथा स्थावर शिशायों की कर्ता-पूर्वक हिंसा करता है—उन्हें श्रनेक तरह से कष्ट पहुँचाता है, जो दूसरों की चोरी करता है, जो श्रादरखीय बतों का कुछ भी पालन नहीं करता, (वह भयंकर क्लेश उठाता है)। (३७)

दन्तसोहणमाइस्स, श्रदत्तस्स विवज्जणं। श्रमावज्जेसणिज्जस्स, गिएहणा श्रवि दुकरं ॥४॥ [उत्तरा० श्र० १६ गा० २७

(३७)

दाँत क्रोदने की सींक श्रादि तुच्छ वस्तुएँ भी बिना दिए बोरी से न लेना, (बड़ी चीजों को चोरी से लेने की तो बात ही क्या?) निर्दोष एवं एषणीय भोजन-पान भी दाता के यहाँ से दिया हुआ लेना, यह बड़ी दुष्कर बात है।

: ६ :

बंभचरिय-सुत्तं

(३५)

विरई श्रबंभचेरस्स, कामभोगरसन्तुणा । इगां महत्वयं वंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥१॥

ि उत्तराः अ० १६ गा० २८]

(38)

श्चवंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिद्वियं । नाट्डयरन्ति मुगी लोए, भेयाययगाविजगो ॥२॥

[दशः ग्र. ६ गा० १६]

(8:)

मृ्लमेयमहम्मस्स सहादोससमुस्सयं । ' तम्हा मेहुणसंसम्मं, निगांथा वज्जयन्ति गं ॥३॥

[दश० ८०६ गाः ११]

(88)

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पग्गीयं रसभोयगां। नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥४॥

दिशः अ 🖛 🗕 गा० ४७ 🗍

: ε :

ब्रह्मचर्य-सूत्र

(3年)

काम-भोगों का रस जान खेनेबाले के लिए श्र-ब्रह्मचर्य से विरक्त होना श्रीर उग्र ब्रह्म वर्ष महाव्रत का धारण करना, बड़ा कठिन कार्य है।

(३६)

जो मुनि संशम घातक दोषों से दूर रहते हैं, वे कोक में रहते हुए भी दुःसेव्य, प्रमाद-स्वरूप श्रीर भयंकर श्र-व्रक्षचर्य का कभी सेवन नहीं करते।

(80)

यह श्र-ब्रह्मचर्य श्रधर्म का मूल है, महा-दोषों का स्थान है, इसिलए निर्प्रन्थ मुनि मैथुन-संसर्ग का सर्वथा परिस्थाग करते हैं।

(88)

म्रात्म-शोधक मनुष्य के लिए शरीर का श्रंगार, सियों का संसर्ग भीर पौष्टिक-स्वादिष्ट भोजन— सब तालपुट विष के समान महाम् अयंकर हैं। (४२)

न रूत्रलावरम् विलासहासं,

न जंपियं इंगिय-पेहियं वा ।

इत्थीए चित्तंसि निवेसइत्ता,

दट्ठुं ववस्से समर्गे तवस्सी ॥४॥

[उत्तरा० छ**० ३२ गा**० १४]

(83)

श्चदंसएां चेव श्चपत्थएां च,

श्रचितगां चेव श्रकित्तगां च।

इत्थीजणस्साऽऽरियक्मागजुगां,

हियं सया बंभवए रयाएं ॥६॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० १४]

(88)

मणपल्हायजगाणी, कामरागविवद्दणी।

वंभचेररत्र्यो भिक्खु, थीकहं तु विवज्जए ॥०॥

उत्तरा० ग्रा० १६ गा० २]

(88)

समं च संथवं थीहिं, संकहं च ऋभिक्लएं।

वंभचेररस्रो भिवस्तु, निच्चसो परिवज्जए ॥५॥

ि उत्तरा० श्र० १६ गा० ३

ब्रह्मचर्य-सूत्र

(82)

श्रमण तपस्वी स्त्रियों के रूप, लावएय, विजास, हास्य, मधुर-वचन, संकेत-चेष्टा, हाव-भाव श्रीर कटाच श्रादि का मनमें तनिक भी विचार न जाये, श्रीर न इन्हें देखने का कभी प्रयत्न करे।

(४३)

स्त्रियों को राग-पूर्वक देखना उनकी श्राभकाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कीर्तन करना, श्रादि कार्य ब्रह्मचारी पुरुष को कदापि नहीं करने चाहिए। ब्रह्मचर्य ब्रन में सदा रत रहने की हुच्छा रखनेवाले पुरुषों के जिए यह नियम श्रस्यन्त हितकर है, श्रीर उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है।

(88)

ब्रह्मचर्य में श्रनुरक्त भिन्न को मनमें वैषयिकं श्रानःद पैदा करनेवाली तथा काम-भोग की श्रासक्ति बढ़ानेबाली स्त्री-कथा को छोड़ देना चाहिए ।

(৪৯)

ब्रह्मचर्य-२त भिन्नु को स्त्रियों के साथ बात-चीत करना श्रीर उनसे बार-बार परिचय प्राप्त करना सदा के लिए छोड़ देना चाहिये।

```
(88)
```

श्चंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लविय-पेहियं । बंभचेररश्चो थीणं, चक्खुगिष्मं विवण्जए ॥६॥

[उत्तरा० म्र० १६ गा० ४]

(৪৬)

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थिएय-कन्दियं । बंभचेररस्रो थीएां, सोयगिष्मा विवष्डए ॥१०॥

[उत्तरा० प्र० १६ गा २ ४]

(85)

हासं कि**डु**ंरइं दृष्पं, सहस्साऽवत्तासियाणि य । वंभचेररत्र्यो थीणं, नागुचिन्ते कयोइ वि ॥११॥

ि उत्तरा० श्र॰ १६ गा० ६]

(88)

पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवद्दणं । बंभचेररत्र्यो भिक्ख्, निच्चसो परिवज्जए ॥१२॥

[उत्तरा० द्या १६ गा० ७]

(४০)

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पिशहाएवं । नाइमत्तं तु मुंजेज्जा, त्रंभचेररस्रो सया ॥१३॥

[उत्तरा० घ० १६ गा॰ म]

(88)

महाचर्य-रत भिन्न को न तो स्त्रियों के श्रक्त-प्रत्यक्षों की सुन्दर श्राकृति की श्रोर ध्यान देना चाहिए, श्रीर न श्रांखों में विकार पैदा करनेवाले हाव-भावों श्रीर स्नेह-भरे मीठे वचनों की ही श्रोर।

(80)

बहाचर्य-रत भिन्न को स्त्रियों का कूअन (भ्रष्यक्त भावाज) रोदन, गीत, हास्य, सीरकार भौर करुण-कन्दन—जिनके सुनने पर विकार पैदा होते हैं—सुनना छोड़ देना चाहिए।

(양도)

ब्रह्मचर्य-रत भिद्ध स्त्रियों के पूर्वानुभूत हास्य, कीड़ा, रति, दर्प, सहसा-वित्रासन छादि कार्यों को कभी भी स्मरण न करे।

(88)

ब्रह्म वर्य-रत भिद्ध को शीघ्र ही वासना-वर्धक पुष्टि-फारक भोजन-पान का सदा के लिए परिस्याग कर देना चाहिए।

(Kc)

बद्धाचर्य-रत स्थिर-चित्त भित्तु को संयम-यात्रा के निर्धाद के जिए हमेशा धर्मानुकूत्र विधि से प्राप्त परिमित भोजन हो करना चाहिए। कैसी दी भूख क्यों न जगी हो, जाजच-चया धिक मान्ना में कभी भोजन नहीं करना चादिए। (28)

जहा दवगी पडरिन्धणे वणे, समारुत्रो नोवसमं उवेइ। एविन्दियगी विपगामभोइणो,

न वंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥१४॥

[उत्तरा० द्यः ६२ गा० ११]

(ধ্র)

विभूसं परिवन्जेन्जा, सरीरपरिमंडणं। बंभचेररत्र्यो भिक्खू, सिंगारत्थं न धोरए॥१४॥

[उत्तराव्रयः १६ गाव्ह]

(ধ্ ২)

सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य। पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए॥१६॥

[उत्तरा० घ्र> १६ गा> १०]

(XS)

दुञ्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवञ्जए । संकट्ठागाणि सन्वाणि, वञ्जेञ्जा पाणिहाणवं ॥१०॥

उत्तराद अद १६ गाद १२

(28)

जैसे बहुत ज्यादा ईंधनवाले जङ्गल में पवन से उत्ते जित दावानि शान्त नहीं होती, उसी तरह मर्यादा से श्रधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारी की हंदियानि भी शान्त नहीं होती। श्रधिक भोजन किसी को भी दितकर नहीं होता।

(५२)

बह्मचर्य-रत भिन्न को शृंगार के लिए, शरीर की शोमा श्रीर सनावट का कोई भी श्रृङ्गारी काम नहीं करना चाहिये।

(£3)

व्रह्मचारी भिन्न को शब्द, रूप, गन्ध, रस श्रीर स्परां—इन पाँच प्रकार के काम-मुखों को सदा के जिये छोड़ देना चाहिये।

(28)

स्थिर-चित्त भित्त, दुर्वय काम-भोगों को हमेशा के लिए छोड़ दे। इसना ही नहीं, जिनसे ब्रह्मचर्य में तिनक भी चिति पहुँचनेकी सम्भावना हो, उन सब शङ्का-स्थानों का भी उसे परित्याग कर देना चाहिए। (xx)

कामाण्गिद्धिप्यभवं खु दुक्खं, सन्वस्य लोगस्य सदेवगस्य । अं काइयं माण्सियं च किंचि, तस्सऽन्तर्ग गच्छई त्रीयरागो ॥१८।

> ि उत्तराट चार ६२ गाट १६ ो (48)

देवदाणवगन्धव्या, जक्खरक्खसंकिन्नरा। बंभयारि नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं ॥१६॥ [स्तराः घः १६ गा० १६]

(vy)

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिएदेसिए। सिद्धा सिक्मन्ति चार्गेग्, सिक्मिस्सन्ति तहा परे ॥२८॥ ि उत्तराट घट १६ गाट १७

(xx)

वेवजीक सहित समस्त संसार के शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःख का मूल एक-मात्र काम-भोगों की चासना ही है। जो साधक इस खम्बन्य में बीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

(48)

जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर प्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्य, यस, राचस और किन्तर आदि समी नमस्कार करते हैं।

(ka)

यद बदावर्ष धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है छोर जिमोप-दिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल में किसने ही जीव सिद्ध हो गये हैं. वर्तमान में हो रहे हैं, खौर मविष्य में होंगे।

श्रप्परिमाह-सुत्तं

(4=)

न सो परिगाहो बुत्तो, नायपुत्तेगा ताइगा । मुच्छा परिगाहो बुत्तों, इइ बुत्तं महेसिगा ॥१॥ [दशः घः ६ गाः २१]

(3%)

धग्-धन्न-पेसवग्गेसु, परिगाहविवज्जगां। सन्त्रारंभ-परिच्चात्रो, निम्ममत्तं सुदुक्करं॥२॥ [उत्तरा० ८० १६ गा० २६]

(६)

विद्मुक्भेइमं लोगं, तेल्लं सिंपं च फाणियं। न ते सिन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्त-वन्नोरया॥३॥ -[दश० १४० ६ गार १८]

(६१)

र्ज पि बत्थं च पायं वा, कंबल पायपुंछर्ग। तं पि संजमलज्जष्टा, धारेन्ति परिहरन्ति य ॥४॥ [इश० अ० ६ ग०२०]

: 10:

श्रपरिग्रह—सूत्र

(次5)

प्राणि मात्र के संरचक ज्ञातपुत्र (भगवान् महाधीर) ने कुछ वस्त्र द्यादि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नहीं बतलाया है। बास्तविक परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थ पर मृच्छी का — द्याशक्ति का रखना बतलाया है।

(38)

पूर्ण-संयमी को धन-धान्य और नौकर-चाकर स्रादि सभी प्रकार के परिप्रदों का स्याग करना होता है। समस्त पाप-कर्मी का परिस्याग करके सर्वथा निर्ममस्य होना तो स्रोर भी कठिन बात है।

(६०)

जो संयमी ज्ञातपुत्र (भगवान् सहावीर) के प्रवचनों में रत हैं, वे बिड श्रोर उद्भेग्न श्रादि नमक तथा तेज, घी, गुड़ श्रादि किसी भी वस्तु के संग्रह करने का मन में संकल्प तक नहीं करते।

(६१)

परिमद्द-विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजो-द्दरण श्रादि वस्तुएँ रखते हैं, वे सब एक-मान्न संयम को रचा के बिए द्दी रखते हैं —काम में जाते हैं। (इनके रखने में किसी प्रकार की श्रासक्ति का भाव नहीं है।) (६२)

सम्बन्धुबहिणा बुद्धा, संरक्खण-परिगाहे। श्रवि श्रप्पणो वि देहिमिम, माऽऽयरित ममाइयं॥॥॥ [दश० श्र० ६ गा० २२]

(\$3)

लोहस्सेस अणुष्फासो, मन्ने अन्नयरामि । जे सिया सन्निहीकामे गिही, पन्त्रइए न से ॥६॥

[इश- ४० ६ गाठ १६]

(६२)

ज्ञानी पुरुष, संयम-साधक अपकरणों के खेने और रखने में कहीं भी किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं करते। और तो क्या, अपने शरीर सक पर भी ममता नहीं रखते।

({ { } })

संप्रद करना, यद अन्दर रहनेवाले कोभ की भरतक है। अतप्र में मानता हूँ कि जो साधु मर्यादा-विरुद्ध कुछ भी संप्रद करना बाहता है, यह गृहस्थ है—साधु नहीं है।

अराइभोयगा-सुत्तं

(६४)

श्राहारमाइयं सञ्ज, प्रतथा य अगुगए। श्राहारमाइयं सञ्ज, मगासा वि न पत्थए॥१॥ [दशः घः = गाः २=]

(६४)

सन्तिमे सुहुमा पाणाः तसा श्रदु व थावरा । जाई राश्रो श्रपासंतो, कहमेसिण्यं चरे ? ॥२॥ [दशः श्रः ६ गाः २४]

(६६)

उद्उल्लं वीयसंसत्तं, पाणा निव्विड्या महिं। दिया ताइं विवज्जेज्जा, रास्रो तत्थ कहं चरे ? ॥३॥ [दशः अ०६ गा० २४]

(६७)

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं। सन्त्राहारं न भुंजंति, निगांथा राइभोयणं ॥४॥ [दशः भ० ६ गा० २६]

श्ररात्रि-भोजन-सूत्र

(६४)

सूर्य के उदय होने से पहले और सूर्य के अस्त हो जाने के बाद निर्श्रन्थ मुनि को सभी प्रकार के भोजन पान आदि की मन से भी हुच्छा नहीं करनो चाहिए।

(**& x**)

संसार में बहुत से त्रस भीर स्थावर प्राणी बहे ही सूचम होते हैं—वे रात्रि में देखे नहीं जा सकते । तब रात्रि में भोजन कैसे किया जा सकता है ?

(६६)

जमान पर कहीं पानी पढ़ा होता है; कहीं बीज बिखरे होते हैं, और कहीं पर सूचम की ड़े-मकोड़े आदि जीव होते हैं। दिन में तो उन्हें देख-भाजकर बचाया जा सकता है, परन्तु राजि में उनको बचा कर भोजन कैसे किया जा सबता है?

(६७)

इस सरह सब दोषों को देखकर ही ज्ञातपुत्र ने कहा है कि निग्रंग्थ मुनि, रात्रि में किसी भी प्रकार का भोजन न करें। (६=)

चउठिव**हे वि श्राहारे, रा**ईभोयणवज्जणा । सन्निही-संच्यो चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्कर ॥४॥

विसराद श्र• १६ मा० ३ •

(33)

पाणिवह-मुसावायाऽदत्त-मेहुण-परिगाहा विरस्रो । राइभोयग्रविरस्रो, जीवो भवई खणासवी ॥६॥

[इसरा० छ० ६० गा० ३]

(\$5)

श्रम आदि धारों ही शकार के शाहार का राश्रि में सेक्स नहीं करना चाहिए। इसना ही नहीं, दूसरे दिन के लिए भी राश्रि में खाद्य सामग्री का सक्यद करना निविद्ध है। श्रातः श्रराश्रि-भोजन वास्तव में बढ़ा दुष्कर है।

(६६)

हिंसा, सूठ, चोरी, मैधुन, परिग्रह और राश्चि—भोजम—को बीब इनसे विरत (पृथक्) रहता है, यह 'श्रमाखव' (आरमा मैं पाप-कर्म के प्रविष्ट होने के द्वार बासव कहलाते हैं, डनसे रहित = धनाखव) हो जाता है।

विखय-सुत्तं

(cv)

मृलाश्रो खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुवेन्ति साहा ।
साहा-प्पसाहा विस्हन्ति पत्ता,
तश्रो य से पुष्कं फलं रसो य ॥१॥

[दशा अप ६ ड० २ गा० १]

(98)

एवं धम्मस्स विगात्रो, मूलं परमो से मोक्खो । जेगा कित्ति सुयं सिग्घं, निस्सेसं चामिगच्छइ ॥२॥

[दशाद अप्रदेश २ गाठ २]

(ওহ)

अह पंचिहं ठाए।हिं, जेहिं सिक्खा न लटभइ। धम्भा कोहा पमाएएं, रोगेगाऽऽलस्सएए य ॥३॥ [उत्तरा० ४० ११ गा० ३]

: & :

विनय-सूत्र

(00)

तृष के मूल से सबसे पहले स्कन्ध पैदा होता है, स्कन्ध के बाद शाखाएँ घौर शाखाओं से दूपरी छोटी-छोटी टहनियाँ निकलती हैं। छोटी टहनियों से पत्ते पैदा होते हैं। इसके बाद कमशः पूज, फल और रस उत्पक्ष होते हैं।

(92)

इसी भाँति धर्म का मूल विनय है और मोच उसका श्रान्तम रस है। विनय से ही मनुष्य बहुत जल्दी छाघायुक्त संपूर्ण शास्त्र-ज्ञान तथो कीर्ति सम्पादन करता है।

(७२)

इम पाँच कारगों से मनुष्य सच्ची शिक्षा श्राप्त नहीं कर सकता:---

श्रभिभान सें, कोध से, प्रमाद से, कुष्ठ श्रादि रोग से, श्रौर भारतस्य से ।

(se-\$v)

श्रद श्रद्धिं ठाऐहिं, सिक्खासीलि ति वृश्वइ । श्रद्धस्तिरे सयादन्ते, न य मन्ममुदाहरे ॥४॥ नासीले न विसीले, न सिया श्रद्दलोलुए । श्रकोहऐं सबरए, सिक्खासीलि ति वृश्वइ ॥४॥

> ्डिसराः श्रः ११ गा० ४~४] (७ऱ्)

श्राणानिह सकरे, गुरूणमुववायकारए । इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति बुच्चइ ॥६॥ [उत्तरा श्रव १ गाव १]

(30-32)

श्रद्ध पन्नरसिंह ठाणेहिं, सुविणीए ति वुच्चइ।
नीयावित्ती श्रचवले, श्रमाई श्रकुउद्धले ॥७॥
श्रापं च श्रद्धिविखवई, पवन्धं च न कुव्बई।
मेत्तिज्ञमाणो भयइ, सुयं लद्धं न मज्जइ॥५॥
न य पावपरित्रखेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ।
श्रिष्यिससाऽवि मित्तस्स, रहे कङ्माण भासइ॥६॥
कलहडमरविज्ञिए, बुद्धे श्रभिजाइए।
हिरिमं पिंडसंलीणे, सुविणीए ति वुच्चइ॥१०॥
[उत्तरा० भ० ११ गा० १००११०१६०१६]

(७३-७४)

इन भाठ कारवों से मनुष्य शिचा-शील कहलाता है :

हर समय हँसनेवाला न हो, सतत हंद्रिय-निग्रही हो, दूसरों को मर्म-मेदी वचन न बोजता हो, सुशीब हो, दुराचारी न हो, रसकोलुप न हो, सत्य में रत हो, कोश्री न हो—शान्त हो।

(৬১)

जो गुरु की छ।ज्ञा पाखता है, उनके पास रहता है, उनके हैंगितों तथा श्राकारों को जानता है, वही शिष्य विनीत हिंदाता है

(७६-७६)

इन पन्द्रद कारणों से बुद्धिमान मनुष्य सुविनीत कहवाता है:

उद्धत न हो — नम्र हो, चपल न हो — स्थिर हो, मायाबी
हो हो-सरल हो, कुत्रली न हो – गम्भीर हो, किसी का तिरस्कार
करता हो, कोध को श्रधिक समय तक न रखना हो – शोध हो
गानत हो जाता हो, श्राने से मित्रता का व्यवहार रखनेवालों के
प्रति प्रा सद्भाव रखता हो, शास्त्रोंक श्रध्ययन का गर्व न करता
हो, किसी के दोषों का भगडाफोड़ न करता हो, मित्रों पर कोधित
ब होता हो, श्रिय मित्र की भी पीठ-पीछे भवाई हो करता हो,
किसी प्रकार का कगड़ा-फसाइ न करता हो, बुद्धिमान हो,
क्रिकात श्रधीत कुकीन हो, करजाशील हो, प्रकाम हो।

(50)

आगाऽनिह सकरे, गुरूणमगुबवायकारए।
पिर्हिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति बुच्चइ ॥११॥
[उत्तरा० अ. १ गा० ३]

(5१-5३)

श्रभिक्लणं कोही हवइ, पबन्धं च पकुव्वई । मेतिज्जमाणो वमइ, सुयं लिख्रूण मज्जई ॥१२॥ श्रवि पावपरिक्लेवी, श्रवि मित्तेसु कुष्पइ । सुष्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥१३॥ पइण्णवादी दुहिले, थद्धे लुद्धे श्रिणिगहे । श्रसिवभागी श्रवियत्ते, श्रविणीए ति वुच्चइ॥१४॥

[उत्तराव ग्रब ११ गाव ७-६-६]

(58)

जस्सन्तिए धम्मपयाई सिक्खे, तस्सन्तिए वेगाइयं पडंजे। सकारए सिरसा पंजलीत्रो, काय-गिरा भो! मगसा य निच्चं । १४॥ [दश्र १ ४० १ गा० १२]

विनय-सूत्र

(50)

जो गुरु की स्राज्ञा का पोलन नहीं करता, जो उनके पास नहीं रहता, जो उनसे शत्रुता का वर्तीव रखता है, जो विवेक-सून्य है, उसे स्रविनीत कहते हैं।

(= ?-= 3)

जो बार-बार कोध करता है, जिसका कोध शीख ही शानत नहीं होता, जो मित्रता रखनेवाओं का भी तिरस्कार करता है, जो शास्त्र पढ़कर गर्व करता है, जो दूसरों के दोषों को प्रकट करता रहता है, जो अपने मित्रों पर भी कुछ हो जाता है, को अपने व्यारे-से-प्यारे मित्र की भी पीठ-रोछे जुराई करता है; जो मनमाना बोब उठता है—बश्चादी है, जो स्नेही-जनों से भी दोह रखता है, जो अहंकारी है, जो लुट्च हैं, जो इन्द्रियनिग्रही बहीं, जी शाहार श्रादि पाकर अपने साधमीं को न देकर अक्षा ही खानेवाबा श्रविसंभागी है, जो सबको श्रिय है, वह अविनीत कहवाता है।

(58)

शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह जिस गुरु से धर्म-प्रवचन सीखे, उसकी निश्तर विनय-भिन्त वरे। मस्तक पर श्रंजिल चढ़ाकर गुरु के प्रति सम्मान प्रदक्षित वरे। जिस तरह भी होसके मन से, वचन से श्रीर शरीर से हमेशा गुरु की सेवा करे। (**=**×)

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विशायं न सिक्खें ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥१६॥
[दशः अ०६ ड० १ गा० १]

(= { }

विवत्ती श्रविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य । जस्सेयं दुइश्रो नायं, सिक्खं से श्रभिगच्छइ ॥१७॥ [दश० ८० ६ ८० २ ग० २२]

(도보)

जो शिष्य श्रमिमान, कोध, सद् या प्रमाद के कारण गुरु की विनय (भक्ति) नहीं करता, वह श्रभूति श्रधीत् पतन को श्राप्त होता है। जैसे बॉस्नुका फर्जा, उसके ही नाश के किए होता है, उसी प्रकार श्रविनीत का ज्ञान-वज भी उसी का सर्व-नाश करता है।

(55)

'श्रविनीत को विपत्ति प्राप्त ्होती है, श्रौर विनीत को सम्पत्ति'—ये दो बातें जिसने जान खी हैं, वही शिचा प्राप्त कर सकता है।

: 20:

चाउरंगिज्ज-सुत्तं

(50)

चत्तारि परमंगािंग, दुल्लहािणीह जन्तुगो। मागुसत्तां सुई सद्धा, संजमिम य वीरियं ॥१॥ [उत्तरा० अ०३ गा०१]

(55)

एगया खित्तित्रो होइ, तत्रो चंडाल-बुक्कसो। तत्रो कीड-पयंगो य, तत्रों कुन्थु-पिवीलिया ॥२॥

[उत्तरा० श्र० ३ गा० ४]

(52)

एवमावट्टजोसीसु पासिसो कम्मकिन्विसा । न निन्विष्जनित संसारे, सन्वट्टोसु व खत्तिया ॥३॥

[उत्तरा० घ० ३ गा० ४]

(03)

कम्मसंगेहिं सम्मृढा, दुक्खिया बहुवेयणा। अमागुसासु जोग्गीसु, त्रिणिहम्मन्ति पाणिगो ॥४॥

ि उत्तरा० छ० ३ गा० ६]

: 20:

चतुरङ्गीय-स्त्र

(59)

संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ श्रङ्गों (जीवन-विकास के साधनों) का प्राप्त होना बड़ा दुर्जभ है:

मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा श्रीर संयम में पुरुषार्थ।

(55)

कभी वह चित्रय होता है और कभी चाएडाल, कभी वर्ण-संकर—बुक्कस, कभी की हा, कभी पतङ्ग, कभी कुं थुआ, तो कभी चींटी होता है।

(58)

पाप-कर्म करनेवाले प्राणी इस भाँति हमेशा बदलती रहने वाली योनियों में बारम्बार पैदा होते रहते हैं, किंतु इस दुः अपूर्ण, संसार से कभी खिन्न नहीं होते, जैसे दुःखपूर्ण राज्य से चत्रिय।

(63)

जो प्राणी काम-वासनाश्चों से विमूद हैं, वे भयक्षर दुःख तथा वेदना भोगते हुए चिरकास तक मनुष्येतर योनियों में भड़क्ते रहते हैं।

महाबीर-वाशी

(83)

कम्मार्ग तु पहाणाए, त्र्रागुपुब्बी कयाइ उ । जीवो सोहिमगुप्पत्ता, त्र्राययन्ति मगुस्सयं ॥४॥

[उत्तरा० छाः ३ गा० ७]

(٤૨)

मागुस्सं विगाहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा । जं सोचा पडिवज्जन्ति, तवं खन्तिमहिंसयं ॥६॥

[उत्तरा० भ्र० ३ गा॰ म]

(٤३)

श्राहच सत्रणं लख़ुं, सङ्घा परमदुल्लहा । सोचा नेयाज्यं मग्गं, बहत्रे परिभस्सई ॥॥

[उत्तरा० ४० ३ गा० ६]

(83)

सुई च लहु सद्धं च, त्रीरियं पुण दुल्लहं । बहवे रोग्रमाणा वि, नो य गां पहित्रज्ञए ॥=॥

[उत्तरा० घ० ३ गा० १०]

(83)

संसार में परिश्रमण करते-करते जब कभी बहुत काल में पार-कर्मों का वेग सीण होता है श्रीर उसके फलस्बरूप अन्तरात्मा क्रमशः शुद्धि को प्राप्त करता है; तब वहीं मजुष्य-जन्म मिलता है।

(٤ ?).

मनुष्य-शरीर पालेने पर भी सद्धर्मका अवश दुर्जभ है, जिसे सुनकर मनुष्य तप, हमा भौर अहिंसा को स्वीकार करते हैं।

(٤3)

सौधारय से यदि कभी धर्म का श्रवण हो भी जाय, तो उस पर श्रद्धा का होना श्रव्यन्त दुर्लभ है। कारण कि बहुत-से कोन न्याय-मार्ग को - सत्य-सिद्धान्त को - सुनकर भी उससे हुर रहते हैं - उसपर विश्वास नहीं रखते।

(88).

सदर्म का श्रवण श्रीर उसपर श्रद्धा—दोनों श्राप्त कर सेने पर भी उनके श्रनुसार पुरुषार्थ करना तो श्रीर भी कठिन है। क्योंकि संसार में बहुत-से लोग ऐने हैं, जो सद्धर्म पर हद विश्वास रखते हुए भी उसे श्राचरण में नहीं ताते! (\$3)

मागुसत्तिम्म त्रायात्र्यो, जो धम्मं सोच सद्दे। तबस्सी वीरियं लढ़ुं, संबुड़े निद्धुगो रयं ॥६॥ [उत्तरा० त्र० ३ गा० ११]

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मों सुद्धस्स चिट्ठइ । निन्नार्ग परमं जाइ, घयसित्ते व पावए ॥१०॥ [उत्तरा० १४० ३ गा० १२]

(23)

विगिच कम्मणों हेउं, जसं संचिगा खन्तिए। सरीरं पाढवं हिचा, उड्डं पक्कमई दिसं ॥११॥ [उत्तरा० अ०३ गा० १३]

(=3)

चउरंगं दुल्लहं मत्ता, संजमं पडिवज्जिया । तवसा धुयंकन्मंसे, सिद्धे हथइ सासए ॥१२॥ [उत्तरा० अ ३ गा० २०]

(以)

परन्तु जो तपस्वी मनुष्यत्व को पाकर, सद्धर्म का श्रवण कर, उसपर श्रद्धा काता है श्रीर तदनुसार पुरुवार्थ कर श्रास्रव-रहित हो जाता है, वह श्रन्तरात्मा पर से कर्म-रज को भटक देता है।

(٤)

जो मनुष्य निष्कपट एवं सरत होता है, उसी की आस्मा गुद्ध होती है। और, जिस की श्रातमा गुद्ध होती है, उसी के पास भर्म उद्दर सकता है। बी से सींची हुई श्रान जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरज और शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण की प्राप्त होता है।

(89)

कर्मों के पैदा करनेवाले कारणों की दूँ हो — उनका खेद करो, और फिर समा आदि के द्वारा श्रस्य बस का संचय करो। ऐसा करनेवाला मनुष्य इस पार्थिय शरीर को छोदकर उध्य-दिशा को प्राप्त करता है — अर्थान् उच्च और अष्ठ गति पाता है।

(٤=)

जो मनुष्य उक्त चार श्रंगों को दुर्जाभ जानकर संयम-मार्ग स्वीकार करता है, वह तप के द्वारा सब कर्मोशों का नाश कर सदा के जिये सिद्ध हो जाता है।

: 29:

अप्पमाय-सुत्तं

(33)

श्रसंखयं जीविय मा पमायए, जरोवशीयस्स हु नित्थ ताणं। एवं विजाणाहि जणे पमत्ते, कं नु विहिंसा श्रजया गहिन्ति ? ॥१॥ [उत्तरा० श्र० ४ गा० १]

(१६०)

जे पावकम्मेहि धगां मगुस्सा,
समाययन्ति श्रमयं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेरागुवद्धाः नरयं उवेन्ति॥२॥
[उत्तरा श्रथ श्रगा २]

(\$0.5.)

वित्तेग तागं न लभे पमत्त,
इमिम लोए श्रदुवा परत्थ।
दीवण्पगट्ठे व श्रगंतमोहे
नेयाउथं दट्ठुमदट्ठुमेव।।३॥
[उत्तरा० श्र० ३ गा० १]

: ११ :

अप्रमाद-सूत्र

(33)

जीवन असंस्कृत है-अर्थात् एक बार ह्रट जाने के बाद फिर नहीं जुदता; अतः एक चण भी प्रमाद न करो।

'प्रमाद, हिंसा श्रीर श्रसंयम में श्रमूख्य यौवन-काल बिता देने के बाद जब बृद्धावस्था श्रावेगी, तब तुम्हारी कीन रहा करेगा — तब किस की शरण लोगे ?' यह खूब सोच-विचार खो।

(800)

जो मनुष्य श्रनेक पाप-कर्म कर, वैर-विरोध बढ़ाकर श्रमृत की तरह धन का संग्रह करते हैं, वे श्रन्त में कर्मों के हद पाश में बँधे हुए सारी धन-सम्पत्ति यहीं छोड़कर नरक को प्राप्त होते हैं।

(808)

प्रमत्त पुरुष धन' के द्वारा न तो इस लोक में ही अपनी हता कर सकता है और न परलोक में ! फिर भी धन के असीम मोह से मृद मनुष्य, दीपक के बुक्त जाने पर जैसे मार्ग नहीं दीख पदता, वैसे ही न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नहीं देख पाता ।

(१०२)

तेरों जहा सन्धिमुहे गहीए।
सकम्मुणा किच्छ पावकारी।
एवं पया पेच इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्स अस्थि ॥४॥
[उत्तरा: अ०४ गा०३]

(१०३)

संसारमावन्न परस्स श्रहा,
साहारणं जं च करेड कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न वन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ॥४॥
[उत्तरा० ग्र० ४ गा॰ ४]

(808)

सुरोसु या वि पहिंचुढ़जीबी, न वीससे पंहिए आसुपन्ने। घोरा मुहुत्ता अवलं सरीरं, भारंडपक्खी व चरेऽपमत्ते।।६॥ [उत्तराः अ०४ गा०६]

(१०२)

जैसे चोर सेंघ के द्वार पर पकड़ा जाकर श्रवने ही दुष्कर्म के कारण चीरा जाता है, वैसे ही पाप करनेवाला प्राणी भी इस कोक में तथा परकोक में — दोनों ही जगह— भयक्कर दुःख पाता है। क्योंकि कृत कर्मों को भोगे बिना कभी खुटकारा नहीं हो सकता।

(१०३)

संसारी मनुष्य अपने प्रिय कुटुम्बियों के लिए खरे-से-खरे पाप-कर्म भी कर डालता है, पर जब उनके दुष्फल भोगने का समय श्राता है, तब श्रकेला ही दुःखं भोगता है, कोई भी भाई--बन्धु उसका दुःखं बँटानेवाला--म्रहायता पहुँचानेवाजा नहीं होता।

(808)

श्राशु-प्रज्ञ पंडित-पुरुष को मोह-निदा में सोते रहनेवाले संसारी मनुष्यों के बीच रहकर भी सब श्रोर से जागरूक रहना बाहिए-किसीका विश्वास नहीं करना चाहिए। 'काल निर्देय है ग्रीर शरीर निर्वल' यह जानकर भारण्ड पत्ती की तरह हमेशा प्रथमत भाव से विचरना चाहिए। (POX)

चरे पयाइ परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मरणमाणो। लाभन्तरे जीवियं बूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी॥७॥ [उत्तरा० अ० ४ गाः ७]

(१०६)

छन्दंनिरोहेण उवेइ मोक्खं, श्रासे जहा सिक्खिय-वम्मधारी। पुट्याइं वासाइं चरेऽप्पमत्ते, तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं॥८॥ [उत्तरा० ४० ४ गा० ८]

(१०७)

स पुरुवमेवं न लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासयवाइयाणं।
विसीयई सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए॥६॥
[उत्तरावधावधाव १

(१०५)

संसार में जो धन जन आदि पदार्थ हैं, उन सब को पाशरूप जानकर मुमुक्त को बड़ी सात्रधानी से फूँक फूँक कर पाँच रखना बाहिये। जबतक शरीर सशवत है, तबतक उसका उपयोग श्रिक से अधिक संयम-धर्म की साधना के लिए कर लेगा चाहिए। बाद में जब वह बिलकुल ही अशक्त हो जावे तब बिना किसी मोह-ममताके मिटी के देले के समान उसका त्याग कर देना चाहिए।

(१०६)

जिस प्रकार शिचित (सघा हुआ) तथा कन प्रधारी बोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार विवेकी सुसुद्ध भी जीवन - संप्राम में विजयी होकर मोच प्राप्त करता है। जो सुनि दीर्घकाज तक प्रप्रमत्तरूप से संयम-धर्म का आचरण करता है, वह शीधा- तिशीध मोच-पद पाता है।

(१०७)

शाश्वत-वादी लोग करपना किया करते हैं कि 'सरकर्म-साधना की श्रभी क्या जरुदी है, श्राने कर लेंगे !' परम्तु यों करते-करते भोग-विद्यास में ही उनका जीवन समाप्त हो जाता है, श्रीर एक दिन मृत्यु सामने श्रा खड़ी होती है, शरीर नष्ट हो जाता है। श्रन्तिम समय में कुछ भी नहीं बन पाता; उस समय तो मूर्ख मनुष्य के भाग्य में केवब पछताना ही शेष रहता है।

(१०८)

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं, तम्हा समुद्वाय पहाय कामे। समिच्च लोयं समया महेसी, आयागुरक्खी चरमप्पमत्ते॥१८॥

[उत्तरा० अ० ४ गा० १०]

(308)

मुहुं मुहुं मोहगुरो जयन्तं, त्रारोगरूवा समर्गं चरन्तं। फासा फुसन्ती ऋसमंजसं च, न तेसि भिक्खु मगुसा पडस्से ॥११॥

[उत्तरा० घ० ४ गा० ११]

(११०)

मन्दा य फासा वहुलोहिएाजा, तहप्पगारेसु मणं न कुजा। रिक्स्वज कोहं विणएज माणं, मायं न सेवे पयहेज लोहं॥१२॥

[डसरा० घ० ४ गा० १२]

(१c=)

श्वारम-विवेक सटपट प्राप्त नहीं हो जाता — इसके किए भारी साधना की श्वावश्यकता है। महिष जनों को बहुत पहले से ही संयम-पथ पर हड़ता से खड़े होकर काम-भोगों का परित्याग कर, समतापूर्वक स्वाधी संकार की वास्तविकता को समक्तकर श्रपनी श्वारमा की पापों से रचा करते हुए सर्वदा सप्रमादीक्षप से विचरना चाहिये।

(308)

मोह गुणों के साथ निरन्तर युद्ध करके विजय प्राप्त करने--वाजे श्रमण को श्रमेक प्रकार के प्रतिकृत स्पर्शों का भी बहुत बार सामना करना पड़ता है। परन्तु भिच्च उनपर तनिक भी श्रपने मन को चुन्ध न करे— शान्त भाव से श्रपने जच्य की श्रोर ही अग्रसर होता रहे।

(११०)

संयम-जीवन में मन्द्रता जाने वाले काम-भोग बहुत ही लुआवने मालूम होते हैं। परन्तु संयमी पुरुष उनकी श्रोर अपने मन को कभी श्राहृष्ट न होने दे। श्रात्म-शोधक साधक का कर्त्तस्य है कि वह क्रोध को दबाए, श्रदङ्कार को दूर करे, माया का सेवन न करे श्रोर जोभ को छोड़ दे।

महावीर-वागी

85

(१११)

जे संख्या तुच्छ परप्पत्राई, ते पिजा-दोसागुगया परज्मा। एष अहम्मे ति दुगुंछमागो, कंखे. गुगो जाव सरीरभेए॥१३॥ [उत्तराट थ्रट ४ गा० १३]

(१११)

जो मनुष्य जगर-जगर से संस्कृत जान पहते हैं परनत बस्तुनः
तुम्छ हैं, दूसरों की निन्दा करनेवाजे हैं, रागी-द्वेषी हैं,
परदश हैं, वे सब अधर्माचरणवाजे हैं—इस प्रकार बिचार-पूर्वक
दुर्गणों से घृणा करता हुआ सुमुद्ध शरीर-नाश पर्यन्त (जीवन-पर्यन्त) केवज सद्गुणों की ही कामना करता रहे।

: ११-२ :

अप्पमाय-सुत्तं

(११२)

दुमपत्तए पंडुयए जहा निवडइ राइगणाम अच्चए। एवं मगुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए॥१॥ (११३)

कुसरगे जह स्रोसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए। एवं मरापुरारा जीवियं, समयं गोराम ! मा पमायए॥२॥

(११४)

इइ इत्तरियम्मि ऋाउए, जीवियए बहुपच्चवायए। विहुगाहि रयं पुरेकडं, रूमयं गोयम ! मा पमायए ॥३॥

(११५)

दुल्लहे खलु मागुसे भवे, चिरकालेग वि सव्व-पाणिएं। गाढा य विवाग कम्भुगो, समयं गोयम ! मा पमायए॥४॥

: ११-२:

अप्रमाद्-सूत्र

(११२)

जैसे वृत्त का पत्ता पत्तभड़-ऋतुकािक रात्रि-समूह के बीत जाने के बाद पीचा होकर गिर जाता है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी आयु समाप्त होने पर सहसा नष्ट हो जाता है। इसकिए हे गौतम! चया-मात्र भी प्रमाद न कर।

(११३)

जैसे श्रोस की बूँद कुशा की नोक पर थोड़ी देर तक ही रहती है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी बहुत श्रव्प है— शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है। इसलिये हे गौतम ! स्था-मात्र भी प्रसाद न कर।

(888)

श्रनेक प्रकार के विच्नों से युक्त श्रत्यन्त श्रल्प आयुवाले इस मानव-जीवन में पूर्व सिख्यत कर्मों की धूब को पूरी तरह फटक दे। इसके किए हे गौतम! चया मात्र भी प्रमाद न कर।

(११×)

दीर्घकाल के बाद भी प्राणियों को मनुष्य-जन्म का मिलना बड़ा दुर्लभ है, क्योंकि कृत-कर्मों के विपाक अध्यन्त प्रगाढ़ होते हैं। हे गौतम! चण-मान्र भी प्रमाद न कर।

(११६)

एवं भवसंसारे संसरइ, सुद्दासुद्देहिं कम्मेहिं। जीवो पमायबहुलो, समय गोयम ! मा पमायए॥४॥ [उत्तरा० घ० १० गा० १४]

(११७)

लढ़ू गा वि मागुसत्तर्ण, श्रारियत्तं पुरारावि दुल्लमं । बहवे दस्सुया मिलक्खुया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥

(११=)

लद्भूण वि श्रारियत्तर्णं, श्रहीर्णपंचिन्दिया हु दुल्लहा । विगलिन्दियया हु दीसई, समयं ! गोयम मा पमायए ॥ ।।।।।

(११६)

श्रहीगापंचेन्दियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा । कुतित्थिनिसेवए जर्गे, समयं गोयम ! मा पमायए॥।।।।

(१२०)

लद्धू ए वि उत्तमं सुइं, सद्दर्णा पुरारावि दुल्लहा। मिच्छत्तनिसेवए जर्गो, समयं गोयम! मा पमायह ॥६॥

ं (११६')

प्रसाद-बहुत जीव अपने शुभाशुभ कर्मी के कारण श्रनन्त बार भव-चक्र में इधर से उधर धुमा करता है। हे गौतम ! स्रण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(११७)

मनुष्य-जन्म पा लिया तो क्या ? आर्यस्य का मिक्ना बड़ा किंदिन है। बहुत-से जीव मनुष्यस्य पाकर भी दस्यु और स्लेब्झ जातियों में जन्म खेते हैं। हे गीतम ! क्या-मात्र भी प्रमाद न कर।

(११=)

श्चार्यस्व पाकर भी पाँचों इन्द्रियों को परिपूर्ण पाना बड़ा कठिन है। बहुत-से जोग धार्य चेत्र में जन्म लेकर भी विकल इन्द्रियों वाजे देखे जाते, हैं। हे गौतम! चया-मात्र भी प्रमाद न कर।

(११६)

पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण पाकर भी उत्तम धर्म का श्रवण प्राप्त दोना कठिन है। बहुत से खोग पाखरडी गुरुओं की सेवा किया करते हैं हो गीतन! चण-नात्र भी प्रमाद न करा।

(१२०)

उत्तम धर्म का श्रवण पाकर भी उत्तपर श्रद्धा का होना बड़ा कठिन है। बहुत-से लोग सब कुछ जान-व्यूक्तकर भी निध्यास्य की उपासना में ही लगे रहते हैं। हे गौतम ! च्या-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२१)

धम्मं पि हु सहहन्तया, दुल्लह्या काएए फासया । इह कामगुरोहि मुच्छिया, समय गोयम ! मा पमायए ॥१० [उत्तरा० ४० १० गा० १६-२०]

(१२२)

परिज्यह ते सरीरयं, केसा पंड्रिया हवन्ति ते । से सन्बन्ते य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥ [उत्तरा० घ० १० गा० २६]

(१२३)

अरई गण्डं विस्इया, आयंका विविहा फुसन्ति ते । विद्दुड विद्धं सइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२॥

(१२४)

बोच्छिन्द सिरोहमप्पर्णो, कुमुयं सारइयं व पाणियं। से सब्बसिरोहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए॥१३॥

(१२५)

चिक्रवास अर्था च भारिसं, पटबहुओ हि सि अर्थागारियं । मा बन्तं पुर्गो वि आविष, समयं गोयम ! मा प्रमायए ॥१४॥

अश्मान्-सूत्र

(१२१)

धर्म पर श्रद्ध। होने पर भी शरीर से धर्म का आधरण करना इस कडिन है। संसार में बहुत से धर्म श्रद्धानी मनुष्य भी काम-भोगों में मृष्टिंद्धत हिते हैं। है गीतम ! स्वा-मान्न भी प्रसाद म कर ।

(१.२।

तेरा शरीर दिन-प्रति-[बन जी में होता जा रहा है, सिर के बाज ज़कर रवेत होने को हैं, श्राधिक क्या—शारीरिक और मामसिक बनी प्रकार का बज घटता जा रहा है। हे गीतम ! बच-मान बी प्रमाद न कर।

(१२३)

श्रहित, फोड़ा, विस्चिका (हैजा) श्रादि श्रनेक प्रकार के रोग शरीर में बदते जा रहे हैं; इनके कारण तेरा शरीर विस्कुष दीया तथा ध्वस्त हो रहा है। हे गौतम ! च्या-मात्र भी प्रमाद कर।

(१२४)

जैसे कमल शरत्काल के निर्मल जल को भी नहीं कूता— बाद्यन श्रिलिप्त रहता है, उसी प्रकार त्भी संसार से अपनी समस्त श्रासक्तियाँ दूर कर, सब प्रकार के स्नेह वन्धनों से रहित हो जा। हे गौतम ! चर्ण-मात्र भो प्रमाद न कर।

(१२५)

स्त्री श्रीर धन का परित्याग करके तू महान् श्रनगार पद की पा जुका है, इसकिए श्रव फिर इन नमन की हुई वस्तुओं का पान म कर। हे गौतम! चया-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२६)

उद्यक्तिम्य मित्तवन्धवं, विद्यं चेव धर्गोहसंचयं । मा तं विद्यं गवेसए, समयं गोयम! मा पमायए ॥१४॥ [उत्तरा० भ्र० १० गा० २७-३०]

(१२७)

श्रवले जह भारवाहए, मा मन्ने विसमेऽवगाहिया। पच्छा पच्छांगुतावए, समयं गोयम! मा पमायए ॥१६॥ (१२८)

तिएगो सि अएग्वं महं, कि पुण चिट्ठसि तीरमागत्रो ? अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा प्रमायए ॥१७॥ [उत्तराः अ०१०गाः ३३-३४]

(१२६)

बुद्धस्त निसम्म भासियं, सुकहियमहपदोवसोहियं। रागं दोसं च छिन्दिया, सिद्धिगई गए गोयमें ॥(८॥ [उत्तरा प्र०१० गा॰ ३७]

(१२६)

वियुत्त धनगशि तथा मित्र-धानधंवों को एडबार स्वेच्छा-पूर्वक छोड़कर, श्रव दोवारा उनकी गवेषणा (पूछताछ) न कर। हे गौतम ! चण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२७)

घुमावदार विषय मार्ग को छोड़ कर तू सीधे और साफ मार्ग पर चल । विषय मार्ग पर चलनेवाले निर्वल भार-वाहक की तरह बाद में पछतानेवाला न बन । हे गौतम ! चण-मात्र भी प्रमाद न कर ।

(१२५)

त् विशास संसार-समुद्र को तैर चुका है, श्रव भन्ना किनारे श्राकर क्यों श्रटक रहा है ? उस पार पहुँचने के लिए जितनी भी हो सके शीवता कर ! है गौतम ! च्या-मात्र भी प्रमाद न कर !

(१२६)

भगवान् महाबीर के इस भाँति अर्थयुक्त पदोंवाले सुभाषित यचनों को सुनकर श्री गौतम स्वामी राग तथा द्वेष का छेदन कर विद्य-गति को प्राप्त हो गये।

: १२:

पमायद्वाग्-सुर्न

(१३०)

पभायं कम्ममाइंसु, ऋष्पमायं तहावरं । तहभावादेसऋो वावि, वालं पंडियमेव वा ॥१॥ [स्त्रः अुः १ अः मगाः ३]

(१३१)

जहा व श्रंडप्पमवा बलागा, श्रंडं बलागप्पभवं जहा य एमेव मोहाययणं खु तएहा, मोहं च तएहाययणं वयन्ति ॥२॥

(१३२)

रागो य दोसो वि य कम्मवीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति । कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति ॥३॥

: १२ :

प्रमाद-स्थान-सूत्र

(१३०)

श्रमाद को कर्भ कहा गया है श्रीर श्रश्नमाद को श्रकर्भ--श्रश्नीत् जो श्रवृत्तियाँ प्रमाद-युक्त हैं वे कर्म-बन्धन करनेवाली हैं, श्रीर जो श्रवृत्तियाँ प्रमाद रहित हैं वे कर्म-बन्धन नहीं करतीं। प्रमाद के होने श्रीर न होने से ही मजुष्य क्रमशः मूर्ख श्रीर पंडित कहलाता है।

(१३१)

जिस प्रकार बगुजी श्रंडे से पैदा होती है श्रौर श्रंडा बगुजी से पैदा होता है, उसी प्रकार मोह का उत्पत्ति-स्थान तृत्याँ। है श्रीर तृष्णा का उत्पत्ति-स्थान मोह है।

(१३२)

राग और हे ब-दोनों कर्म के बीज हैं। अतः मोह ही कर्म का उत्पादक माना गया है। कर्म-सिद्धान्त के अनुभवी कोग कहते हैं कि संसार में जन्म-मरण का मूज कर्म है, और जन्म-मरण - मरण - मही एक्सान हु सर्हें।

(१३३)

दुक्खं ह्यं जस्स न होइ मोहों,
मोहो हुओं जस्स न होइ तएहा ।
तएहा ह्या जस्स न होइ लोहो,
लोहो हुओं जस्स न किंचणाइ' ॥४॥
[उत्तराः श्रुट ३२ गाः ६-८]

(१३४)

रसो पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं। दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति, दुमं जहा साउफलं व पक्स्बी ॥४॥ [उत्तरा० अ॰ ३२ गा० १०]

(१३४)

रूबेसु जो गिद्धिसुवेइ तिन्वं, अकालियं पात्रइ से विणासं। रागाउरे से जह वा पयंगे, आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥६॥ [उत्तरा० अ०३२ गा० २४]

(१३३)

जिसे मोद नहीं उसे दुःख नहीं; जिसे तृष्णा नहीं उसे मोद नहीं; जिसे जोभ नहीं उसे तृष्णा नहीं; ग्रीर जिनके पास जोभ करने थोग्य कोई पदार्थ-संप्रद नहीं है, उनमें जोभ भी

(१३४)

दूध-दही आदि रसों का श्रधिक मात्रा में सेवन नहीं हरना चाहिए; क्योंकि रस प्रायः मनुष्यों में मादकता पैदा करते है। मत्त मनुष्य की श्रोर काम-वासनायें वैसे ही दोड़ी श्राती हैं, बैबे स्वादिष्ट फन्नवाने वृत्त की श्रोर पन्नी।

(१३४)

जो मूर्ख मनुष्य सुन्दर रूप के प्रति तीव धासक्ति रखता है, बह श्रकाल में ही नष्ट हो जाता है। रागातुर व्यक्ति रूपदर्शन की लालमा में वैसे ही मृत्यु को प्राप्त होता है, जैसे दोपक की स्योति को देखने की लालसा में पतंग । (१३६)

रूवागुरत्तस्स नरस्स एवं, कुतो सुहं होज्ज कयाइ किंचि। तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं, निव्यत्तई जस्स कएण दुक्खं।।।।।

(१३७)

एमेव रूविम्म गञ्जो पञ्जोसं, डवेइ दुक्खोहपरंपराञ्जो । पदुट्ठिचत्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥५॥

(१३८)

रूवे विरत्तो मगुश्रो विसोगो,
एएगा दुक्लोहपरंपरेगा।
न लिप्पए भवमज्मे वि सन्तो,
जलेगा वा पोक्लरिगीपलासं॥॥।
[उत्तरा० श्र० ३२ गा० ३२-३४]

(१३६)

एबिन्दियत्था य मणस्स श्रत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो । ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेन्ति किंचि ॥१८॥

[उत्तरा० घर ३२ गा० १००]

(१३६)

ह्य में श्रासक्त मनुष्य को कहीं भी कभी किंचिनमात्र सुख महीं मिल सकता। खेद है कि जिसकी प्राप्ति के किये मनुष्य महान् कष्ट उठाता है, उसके उपभोग में कुछ भी सुख न पाकर में बेश तथा दु:ख ही पाता है।

(१३७)

जो मनुष्य कुरिसत रूपों के प्रति द्वेष रखता है, वह भविष्य में श्रसीम दुःख-परंपरा का भागी होता है। प्रदुष्टचित्त द्वारा ऐसे बापकर्म संचित किये जाते हैं, जो विपाक-कान में भयंकर दुःख-रूप होते हैं।

(१३८)

रूप-विरक्त मनुष्य ही वास्तव में शोक-रहित है। वह संसार में रहते हुये भी दुःख-प्रवाह से श्रस्तिप्त रहता है, जैसे कमत का पत्ता जल से।

(१३६)

रागी मनुष्य के लिए ही उपर्युक्त इन्द्रियों तथा मन के बिषय-भोग दु:ख के कार्य, होते हैं। परन्तु वीतरागी की किसी प्रकार कभी तनिक-सा दु:ख नहीं पहुँचा सकते।

(१४०)

न कामभोगा समयं डबेन्ति, न यावि भोगा विगइं डवेन्ति । जो तप्पञ्जोसीं य परिगाही य, सो तेसु मोहां विगइं डवेइ ॥११॥

[उत्तरा० घ० ३२ गा० १०१]

(१४१)

त्र्यगाइकोलप्पभवस्स एसो, सम्बस्स दुक्खस्स पमोक्खमगो । वित्राहित्रो जं समुविच्च सत्ता, कमेण त्रम्चन्तसुद्दी भवन्ति ॥१२॥

[उत्तराव घ० ३२ गा० १११]

(880)

काम-भोग श्रपने-श्राप न किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं श्रौर न किसी में राग-द्वेषरूप विकृति पैदा करते हैं। परन्तु मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना संकृष्य बनाकर मोह से विकार-प्रस्त हो जाता है।

(\$8\$)

श्रनादि काल से उत्पन्न होते रहने वाले सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से छूट जाने का यह मार्ग ज्ञानी पुरुषों ने बतवाया है। जो प्राणी उक्त मार्ग का श्रनुसरण करते हैं वे क्रमशः मोच धाम प्राप्त कर श्रत्यन्त सुखी होते हैं।

: {3:

कसाय-सुत्तं

(१४२)

कोहो य माणों य छाणिगाहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा । चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचन्ति मूलाइ' पुण्डभवस्स ॥१॥ [दशः अ॰ ८ गा० ४०]

(१४३)

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं। वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमण्पणो ॥२॥

दिशः प्राठ म गा० ३७]

(888)

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो । माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सञ्त्रविणासणो ॥३॥

[दशा अया मा गा ३ म]

્ (१४४)

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे। मायमञ्जवभावेण, लोभं संतोसस्रो जिणे।।४॥

दिशव श्रव ८ गाट ३६]

: १३ :

कषाय-सूत्र

(१४२)

श्चिनगृहीत क्रोध श्रौर मान; तथा प्रवद्ध मान (बढ़ते हुए) माथा श्रौर लोभ—ये चारों ही काले कुस्सित कवाय पुनर्जन्म रूपी संसार-वृत्त की जड़ों को सींचते हैं।

(१४३)

जो मनुष्य अपना हित चाहता है उसे पाप को बढ़ानेवाले कोघ, मान, माया श्रीर जोभ — इन चार दोशों को सदा के जिये छोड़ देना चाहिए।

(१४४)

क्रोध प्रीति का नाश करता है; मान विनय का नाश करता है; माया किन्नता का नाश करती है; श्रीर लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है।

(१४४)

शान्ति से क्रोध को मारो; नम्रता से श्रभिमान को जीतो; सरवता से माया का नाश करो; श्रौर सन्तोष से लोभ को काबू में लाश्रो ।

(१४६)

किस्ण पि जो इमं लोयं, पिंडिपुरणं दलेज्ज इक्कस्स । तेणाऽवि से न संतुरसे, इइ दुप्पूरए इमे स्राया ॥४॥ (१४७)

जहा लाहो तहा लोहा, लाहा लोही पवड्ढइ। दोमासकयं कञ्जं, कोंडीए वि न निट्ठियं ॥६॥ [उत्तरा० ४० ८ गा० १६-१२]

(१४८)

छाहे वयन्ति कोहेगा, मागोगां छाहमा गई। माया गइपडिग्घाछो, लोहाछो दुहछो भयं।।७।। [उत्तरा० घ० १ गा० ४४]

(१४६)

सुवर्ग्ग-रूप्पस्स उ पञ्चया भवे, सिया हु केलाससमा असंख्या । नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा श्रग्गन्तिया ॥८॥

(१**४**०)

पुढवी साली जवा चेव, हिरएएां पसुभिस्सह । पडिपुएएां नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥६॥ [उत्तरा० घ० ६ गा० ४८-४६]

कपाय-सूत्र

(१४६)

श्चनेक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व यदि किसी मनुष्य की दे दिया जाये, तो भी वह सन्तुष्ट न होगा। श्रहो ! मनुष्य की यह तृष्णा बढ़ी दुष्पूर है !

(१४७)

ज्यों-ज्यों जाभ होता जाता है, स्यों-स्यों जोभ भी बहता जाता है। देखो न, पहले केवज दो मासे सुवर्ण की आवश्यकता थी; पर बाद में वह करोड़ों से भी पूरी न हो सकी।

(१४≒)

क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है, श्रिमान से श्रधम गति में जाता है, माया से सद्गति का नाश होता है श्रीर जोभ से इस जोक तथा परजोक में महान् भय है।

(१४٤)

चाँदी श्रोर सोने के कैवास के समान विशाव श्रसंख्य पर्वत भी यदि पास में हों, तो भी जोभी मनुष्य की तृप्ति के विए वे कुछ भी नहीं। कारण कि तृष्णा श्राकाश के समान श्रनन्त है।

(१५०)

चाँब छ श्रोर जी छ।दि धान्यों तथा सुवर्ण छौर पशुश्रों से परिपूर्ण यह समस्त पृथिवी भी जोभी मनुज्य को तृप्त कर सकने में श्रासमर्थ है—यह जानकर संयम का ही श्राचरण करना च।हिए।

(१५१)

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्मत्थदोसा ।
एयाणि वन्ता अरहा महेसी,
न कुत्वई पावं न कारवेई ॥१८॥
[सूत्र० अ० १ अ० ६ गा० २६]

कषाय-सूत्र

(१४१)

क्रोध, मान, माया श्रीर कोम-ये चार श्रम्तरात्मा के भयंकर दोष हैं। इनका पूर्णका से परित्याग करने वाले श्रहेन्त महर्षि न स्वयं पाप करते हैं श्रीर न दसरों से करवाते हैं।

: 88:

काम-सुत्तं

(१४२)

सल्लं कामा विसं कामा, कामा त्रासीविसीवमा । कामे य पत्थेमाणा, श्रकामा जन्ति दोग्गइं ॥१॥ [उत्तरा० श्र० ६ गा० ४३]

(१४३)

सञ्बं विलिवियं गींयं, सञ्बं नष्टुं विडम्बियं । सञ्बे त्राभरणा भारा, सञ्बे कामा दुहावहा ॥२॥ [उत्तरा० घ्र० १३ गा० १६]

(8x8)

खग्मेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खां, पगामदुक्खा श्रिणिगामसोक्खा । संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खागी श्रग्रत्थाग उ कामभोगा ॥३॥ [उत्तरा० श्र० १४ गा० १३]

(१४४)

जहा किंपागफलाण, परिणामो न सुद्रो । एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥४॥ [उत्तरा० श्र० १६ गा॰ १७]

: 88:

काम-सूत्र

(१४२)

काम-भोग शल्यरूप हैं, विषरूप हैं छौर विषधर के समान हैं। काम-भोगों की खाद्ससा रखने वाजे प्राणी उन्हें प्राप्त किए बिना ही छातृप्त दशा में एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।

(१४३)

गीत सब विजापरूप हैं; नाट्य सब विडम्बनारूप हैं; श्रामरण सब भाररूप हैं। श्रधिक क्या; संसार के जो भी काम-भोग हैं, सब-के-सब दु:खावह हैं।

(१४४)

काम-भोग चर्णमात्र सुख देनेवाले हैं श्रौर चिरकात्न तक दुःख देने वाले । उनमें सुख बहुत थोड़ा है, श्रत्यधिक दुःख-ही-दुःख है। मोच-सुख के वे भयंकर शत्रु हैं, श्रनथों की खान हैं।

(१४४)

जैसे किपाक फर्लों का परिकाम अव्छा नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिकाम भी अव्छा नहीं होता। (१४६)

जहां य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वरणेण य भुंजमाणा ।
ते स्वडण जीविए प्रच्यमगण ।

ते खुडुए जीविए पच्चमाणा । एसोवमा कामगुणा विवागे ॥४॥

[उत्तराऽ अं ३२ गा० २०]

(१४७)

उवलेवो होइ भोगेसु, त्रभोगी नोवलिपाई । भोगी ममइ संसारे, त्रभोगी विष्यसुच्चई ॥६॥

[उत्तरा० ग्रः २४ गा० ३६]

(१४५)

चीराजिएं निर्मिएएं, जड़ी संघाडि मुंडिएं । एयाएि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥७॥

[उत्तरा० घट १ गा० २१]

(348)

जे केइ सरीरे सत्ता, वर्णो रूवे य सन्वसी । मणसा काय-वक्केणं, सन्वे ते दुक्खसंभवा ॥=॥

[उत्तरा० श्र. ह गा० १२]

(१६०)

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइस्रो, न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।

(१५६)

जैसे जिंपाक फल रूप-रंग श्रीर रस की दृष्टि से शुरू में खाते समय तो बड़े श्रव्हें मालूम होते हैं, पर खा लेने के बाद जीवन के नाशक हैं; बैसे ही काममोग भी प्रारंभ में बड़े मनोद्दर लगते हैं, पर विपाक-काज में सर्वेगश कर देते हैं।

(१५७)

जो मनुष्य भोगी है — भोगासक्त है, वही कर्म-मज से जिप्त होता है; श्रभोगी जिप्त नहीं होता | भोगी संसार में परिश्रमण किया करता है श्रीर श्रभोगी संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है।

(१५८)

सृगचर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटिका (बौद्ध भिच्नुश्रों का-सा उत्तरीय वस्त्र), श्रीर सुगडन श्रादि, कोई भी धर्मिचह्न दुःशील भिच्न को रचा नहीं कर सकते।

(388)

जो श्रविवेकी मनुष्य मन, वचन श्रीर काया से शरीर, वर्ण तथा रूप में श्रासक्त रहते हैं, वे श्रपने जिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

(१६०)

काल बड़ी द्रुत गति से चला जा रहा है, जीवन की एक-एक करके सब राजियाँ बीतती जा रही हैं, फल-स्वरूप काम-भोग उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति, दुमं जहा खीराफलं व पक्खी ॥६॥ ' डित्तराः अ० १३ गा० ३१]

(१६१)

अध्वयं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया । विशिष्ट्रिद्धे मोगेसु, श्राउं परिमिश्रमप्पणो ॥१८॥ दिशद अठ द गाठ ३४ ी

(१६२)

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पितयन्तं मगुयाण जीवियं। सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंबुढा ॥११॥

स्त्रि० शु० १ घ० २ उ० १ गा० १०]

(१६३)

संबुज्भह ! किं न बुज्भह ? संबोही खलु पेच्च दुल्लहा। नो हूवणमन्ति राइऋो, नो सुलमं पुरारवि जीवियं ॥१२॥ िसूत्रञ्ञू०१ अप्र २ ड०१ गा० 🕽] (१६४)

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं। श्रह सन्ति सुवयो साहू, जे तरन्ति श्रतरं विषया व ॥१३। उत्तरा० श्र॰ ८ गा० ६ ो

चिरस्थायी नहीं है। भोग-विलास के साधनों से रहित पुरुष को भोग वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे फलविहीन वृत्त को पत्ती।

(१६१)

मानव-जीवन नश्वर है, उसमें भी खायु तो परिमित है, एक मोच-मार्ग ही भविचज है, यह जानकर काम-भोगों से निवृत्त हो जाना चाहिए।

(१६२)

हे पुरुष ! मनुष्यों का जीवन अत्यन्त अव्य है— च्यामंगुर है, अत: शीव्र ही पापकर्म से निवृत्त हो जा। संसार में आसक्त तथा काम-भोगों से मूर्च्छित असंयमी मनुष्य बार-बार मोह को प्राप्त होते रहते हैं।

(१६३)

समक्ती, इतना क्यों नहीं समकते ? परत्तोक में सम्यक् बोधि का प्राप्त होना बड़ा कठिन है। बीती हुई राश्रियों कभी जौटकर नहीं झातीं। फिर से मनुष्य-जीवन पाना श्रासान नहीं।

(१६४)

काम-भोग बड़ी खुश्किक से छूटते हैं, श्रश्नीर पुरुष तो इन्हें सहसा छोड़ ही नहीं सकते । परन्तु जो महान्नतों का पाजन करने वाजे साधुपुरुष हैं, वे ही दुस्तर भोग-ससुद्र की तैर कर पार होते हैं, जैसे—ध्यापारी विधाक ससुद्र को।

: 8x:

श्रसरग्-सुत्तं

(१६४)

वित्त' पसवो य नाइत्रो, तं वाले सरणं ति मन्नई।
एए मम तेसु वि ऋहं, नो ताणं सरणं न विज्ञई।।१।।
[स्त्रः श्रु० १ घ० २ उ० ३ गा० १६]

(१६६)

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य । स्रहों दुक्खों हु संसारों, जत्थ कीसन्ति जन्तुणो ॥२॥ [उत्तराः स्र०१६ गा॰ १४]

(१६७)

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं। असासयावासिमणं, दुक्लकेसाण भायणं॥३॥ [उत्तरा० ४० १६ गा• १२]

(१६८)

दाराणि सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा । जीवन्तमगुजीवन्ति, मयं नागुवयन्ति य ॥४॥ [उत्तराष्ट्रश्वरम् गा०१४]

: १2 :

अशरगा-सूत्र

(१६४)

मूर्ख मनुष्य धन, पशु श्रीर जातिवालों को श्रपना शरण मानता है श्रीर सममता है कि— ये मेरे हैं श्रीर ' में उनका हूँ '। परन्तु इनमें से कोई भी श्रापत्तिकाल में श्राण तथा शरण नहीं दे सकता।

(१६६)

जन्म का दुःख है, जरा (बुहापा) का दुःख है, रोग भौर मरण का दुःख है। घहो ! संसार दुःखरू ही है ! यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक प्राणी जब देखो तब क्लेश ही पाता रहता है।

(१६७)

यह शरीर श्रनित्य है, श्रशुचि है, श्रशुचि से उत्पन्न हुत्रा है, हु: श्र श्रीर क्लेशों का धाम है। जीवात्मा का इसमें कुछ ही चर्णों के बिए निवास है, श्राखिर एक दिन तो श्रचानक छोड़कर चले ही जाना है।

(१६८)

स्त्री, पुत्र, मित्र श्रीर बन्धुजन सब जीते जी के ही साथी हैं, मरने पर कोई भी साथ नहीं श्राता। (१६६)

वेया श्रहीया न भवन्ति ताणं, भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं। जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं,

को नाम ते ऋगुमन्नेज्ज एयं ॥ ॥

[उत्तरा० श्रेश १४ गा० १२]

(१७०)

चिच्चा दुपयं च चडप्पयं च,

खेत्तं गिहं धग्-धन्नं च सव्वं । कम्मप्पबीत्रो, स्रवसी पयाइ,

कम्मप्पवाञा, अवसा पवार, गर्ने भने मन्दर्ग णनगं

परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥६॥ [उत्तरा० श्र० १३ गा० २४]

(१७१)

जहेह सीहो व मियं गहाय,

मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले। न तस्स माया व पिया व भाया,

स्स माया व ापया व भाया,

कालम्मि तस्संसहरा भवन्ति ॥७॥

[उत्तरा० श्रम् १६ गा० २२]

(१७२)

जिम्मण जगई पुढो जगा कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो। सयमेव कडेहि गाहई, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्टगं।।ऽ॥

[सूत्र० भु० १ घट २ उ० १ गा० ४]

पढ़े हुए वेद बचा नहीं सकते, जिमाये हुए ब्राह्मण अन्धकार से अन्धकार में ही जे जाते हैं, पैदा किये हुए पुत्र भी रचा महीं कर सकते; ऐसी दशा में कीन विवेकी पुरुष इन्हें स्वीकार करेगा ?

(१७०)

हिपद (दास, दासी आदि), चतुष्पद (गाय, घोड़े आदि), चेत्र, गृह और धन-धान्य सब कुछ छोड़कर विवशता की दशा में प्राची अपने कृत कर्मों के साथ श्रच्छे या बुरे परभव में चला जाता है।

(१७१)

जिस तरह सिंह हिरण को पक्डकर जे जाता है; उसी तरह श्रंतसमय मृत्यु भी मनुष्य को उठा जे जातो है। उस समय माता पिता, भाई श्रादि कोई भी उसके दुःख में भागीदार नहीं होते—परजोक में उसके साथ नहीं जाते।

(१७२)

संसार में जितने भी प्राणी हैं, सन श्रवने कृत कर्मों के कारण ही दुखी होते हैं। श्रव्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता।

(१७३)

श्रसासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं। पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसंनिभे ॥६॥ [उत्तरा० घ० १६ गा० १३]

(१७४)

मागुसत्ते त्रसारम्मि, वाहि-रोगाग त्रालए। जरामरगघत्थम्मि, खगं पि न रमामहं ॥१०॥ [उत्तरा० भ्र० १६ गा० १४]

(१७岁)

जीवियं चेव रूवं च, विष्जुसंपायचंचलं। जत्थ तं मुष्मसि रायं! पेच्चत्थं नावबुष्मसि ॥११॥ [उत्तरा० ४० १८ गा० १३]

(१७६)

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइत्रो, न मित्तवगा न सुया न बन्धवा। एक्को सयं पच्चगुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव ऋगुजाइ कम्मं ॥१२॥ [उत्तरा० श्र० १३ गा० २३]

(१७७)

न चित्ता तायए भासा,
कुत्रो विज्ञागुसासगं?।
विसन्ना पावकम्मेहिं,
वाला पंडियमागिगो ॥१३॥

[उत्तरा० थ्र० ६ गा० १०]

(१७३)

यह शरीर पानी के बुताबुले के समान चयामंगुर है, पहले या बाद में एक दिन इसे छोड़ना ही है, खतः इसके प्रति मुक्ते तनिक भी प्रीति (खासक्ति) नहीं है।

(१७४)

मावन-शरीर श्वसार है, श्वाधि-व्याधियों का घर है, जरा श्रीर मरण से ग्रस्त है; श्रत: मैं इसकी श्रीर से चणभर भी प्रसन्त नहीं होता।

(que)

मनुष्य का जीवन श्रीर रूप-सीन्ध्यं विजली की चमक के समान चंचल है! श्राश्चर्य है, हे राजन्, तुम इसपर मुग्ध हो रहे हो! क्यों नहीं परलोक का खयाल करते?

(१७६)

पापी जीव के दु:ख को न जातिवाबी बँटा सकते हैं, न मित्र वर्ग, न पुत्र; श्रोर न भाई-बन्धु। जब दु:ख श्रा पहता है, तब वह श्रकेजा ही उसे भोगता है। क्योंकि कर्म श्रपने कर्त्ता के ही पीछे जगते हैं, श्रम्य किसी के नहीं।

(१७७)

चित्र-विचित्र भाषा आपित्तकाल में त्राण नहीं, करती हसी प्रकार मंत्रात्मक भाषा का अनुशासन भी त्राण करनेवाला कैसे हो सकता है ? श्रतः भाषा श्रीर मान्त्रिक विद्या से त्राण पानेकी श्राशाणाले पंडितमन्य मूढ जन पापकर्मों में मगन हो रहे हैं।

: १६ :

बाल-सुत्तं

(१७५)

भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिबोच्चत्थे। बाले य मन्दिए मूढे, बज्मह मच्छिया व खेलम्मि ॥१॥ [उत्तरा० घ० ८ गा॰ ४]

(308)

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई । न मे दिष्ठे परे लोए, चक्खुदिष्ठा इमा रई ॥२॥ [उत्तराव्र अव्यक्ष गाव्य |

(१८०)

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे ऋगागया। को जागाइ परे लोए, ऋत्थि वा नित्थ वा पुगो॥३॥

(१८१)

जरोग सर्द्धि होक्खामि, इइ वाले पगडभइ। कामभोगागुराएगां, केसं संपडिवज्जइ॥४॥

: १६ :

बाल-स्रूत्र

(१७=)

जो बाब-मूर्ख मनुष्य काम-भोगों के मोहक दोषों में आसक्त हैं, हित तथा निश्रे यस के बिचार से शून्य हैं, वे मन्दबुद्धि संसार में वैसे ही फँस जाते हैं, जैसे मक्की रजेष्म (कफ़) में।

(१७६)

जो मनुष्य काम-भोगों में श्रासक्त होते हैं, वे पाश में फंस कर बुरे-से-बुरे पाप-कर्म कर डाखते हैं। ऐसे खोगों की मान्यता होती है कि—'परखोक हमने देखा नहीं, श्रीर यह विद्यमान काम भोगों का श्रानन्द तो प्रत्यश्व-सिद्ध है।

(PEO)

'वर्तमान काल के काम-भोग हाथ में हैं — पूर्ण तया स्वाधीन हैं। भविष्यकाल में परलोक के सुखों का क्या ठिकाना— मिलें शिष्योर यह भी कीन जानता है कि परलोक है भी बा नहीं।''

(१=१)

"मैं तो सामान्य खोगों के साथ रहूँगा—श्रर्थात् जैसी उनकी दशा होगी, वैसी मेरी भी हो जायगी"—मूर्ख मनुष्य इस प्रकार धष्टता-भरी बातें किया करते हैं और काम-भोगों की श्रासक्ति के कारण श्रन्त में महान् क्लेश पाते हैं।

(१८२)

तस्रो से दंडं समारभई, तसेसु थावरेसु य । श्रद्घाए य त्र्रणहाए, भूयगामं विहिंसई ॥४॥ (१८३)

हिंसे वाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे। मुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥६॥

(१५४)

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु । दुहत्र्यो मलं संचिगाइ, सिसुनागु व्या मट्टियं॥७॥

(१८४)

तत्र्यो पुट्टो त्र्यायंकेणं, गिलाणो परितप्पइ । पभीत्र्यो परलोगस्स, कम्मागुष्पेही त्रप्पणो ॥८॥

[उत्तरा० श्र० ४ गा० ६-११]

(१८६)

जे केइ बाला इह जीवियही,
पावाइं कम्माइं करेन्ति रुद्दा।
ते घोररूवे तमसिन्धयारे,
तिञ्जाभितावे नरगे पडन्ति।।।।
[सूत्रव्यु १ श्रुव्य १ अव १ उव १ गाव ३]

(153)

मूर्ख मनुष्य विषयासक्त होते ही त्रस तथा स्थावर जीवों को सताना शुरू कर देता है, घौर अन्त तरु मतन्तव बेमतनव प्राणि-समूह को दिंसा करता रहता है।

(१८३)

मूर्ख मनुष्य दिसक, श्रसत्य-भाषी, मायावी, चुगबखोर श्रीर धूर्त होता है। वह मांस-मद्य के खाने-पीने में ही श्रपना श्रोय समफता है।

(8=8)

जो मनुष्य शरीर तथा वचन के बलपर मदान्ध है, धन तथा स्त्री ग्रादि में ग्रासक्त है, वह राग भीर होष दोनों हारा वैसे ही वमं का संचय करता है, जेसे ग्रालसिया मिट्टी का।

(१८४)

पाप-कर्मों के फलस्वरूप जन मनुष्य श्रन्तिम समय में श्रसाध्य रोगों से पोड़ित होता है, तब वह खिन्नचित्त होकर श्रन्दर-ही-श्रन्दर पछताता है श्रीर श्रपने पूर्वकृत पाप-कर्मी को याद कर-कर के पर— लोक की विभीषिका से कांप उठता हैं।

(144)

जो मूर्ख मनुष्य श्रपने तुच्छ जीवन के किये निर्दय होकर पाप-कर्म करते हैं, वे महाभयंकर प्रगाद श्रन्धकाराच्छ्रन्न एवं तीव तापवाले तमिस्र नरक में जाकर पड़ते हैं। (१८७)

जया य चयइ धम्मं, श्राग्डजो भोगकारणा। से तत्थ मुच्छिए बाले, श्रायइं नावबुड्मई ॥१०॥ दिश्र० चूलिका १ गा० १ ी

(१८८)

निच्चुव्विग्गो जहा तेगो, श्रत्तकम्मेहिं दुम्मई । तारिसो मरगंऽते वि, नाऽऽराहेइ संवरं ॥११॥ [दश० श्रः ४ उ० २ गा० ३६]

(१८६)

जे केइ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो । भोच्चा पिच्चा सुहं सुवइ, पावसमग्गि त्ति वुच्चइ॥१२॥ [उत्तराः घः १७ गा० ३]

(038)

वेराइं कुव्वइ वेरी, तत्र्यो वेरेहिं रज्जइ । पार्वोवगा य त्र्यारंभा, दुक्खफासा य त्र्यन्तसो ॥१३॥

[स्त्र० अु० १ अर ८ गा०७]

(828)

मासे मासे तु जो बाले, कुसरगेणं तु भुंजए। न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलिंस ॥१४

[उत्तरा० भ्र० ह गा? ४४]

(120)

जब श्रनार्य मनुष्य काम-भोगों के जिये धर्म को छोड़ता है तब भोग-विज्ञास में मुर्च्छित रहनेवाला वह मूर्ख श्रपने भयंकर भविष्य को नहीं जानता।

(१८८)

जिस तरह हमेशा भयश्रान्न रहने वाजा चोर श्रपने ही दुष्कर्मों के कारण दु:ख उठाता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य श्रपने दुराचरणों के कारण दु:ख पाता है श्रोर श्रन्तकाज में भी संवर धर्म की श्राराधना नहीं कर सकता।

(१८६)

जो भिन्न प्रवज्या लेकर भी श्रत्यन्त निदाशील हो जाता है, खा-पीकर भजे से सो जाया करता है, वह 'पाप श्रमण' कहलाता है।

(\$80)

वैर रखने वाला मनुष्य हमेशा वैर ही किया करता है, बह वैर में ही श्रानन्द पाता है। हिंसा-कर्म पाप को उत्पन्न करनेवाले हैं, श्रन्त में दुख पहुँचाने वाले हैं।

(939)

यदि श्रज्ञानी मनुष्य महीने-महीने भर का घोर तप करे श्रीर पारणा के दिन देवल कुशा की नोक से भोजन करे, तो भी वह सत्पुरुषों के बताये धर्म का श्राचरण करने वाले मनुष्य के सोलहवें हिस्से को भी नहीं पहुँच सकता।

(१६२)

इह जीवियं श्रमियमित्ता, पब्भट्टा समाहि-जोगेहिं। ते कामभोगरसिद्धा, उववज्जन्ति श्रासुरे काये॥१४॥ [उत्तरा० श्र० म गा० १४]

(१६३)

जावन्तऽविज्जापुरिसा, सन्वे ते दुक्खसंभवा । लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि श्रग्णन्तए ॥१६॥ [उत्तरा० म्र० ६ गा० १]

(883)

बालाणं श्रकामं तु मरणं श्रसई भवे। पंडियाणं सकामं तु, उक्कोंसेण सई भवे॥१०॥ [उत्तराव श्र**० ४** गाव ३]

(१६५)

बालस्स पस्स बालत्तं, श्रहम्मं पहित्रिजया। चिच्चा धम्मं श्रहम्मिट्ठे, नरए उववज्जइ॥१८॥ [उत्तरा० श्र० ७ गा० २८]

(१६६)

धीरस्स पस्स धीरत्तं सचधम्मागुवत्तिगो । चिच्च त्रधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥१६॥

(१६२)

जो मनुष्य श्रपने जीवन को श्रनियंत्रित (उच्छ ंखज) रखने के कारण समाधि-योग से अष्ट हो जाते हैं वे काम-भोगों में श्रासक्त होकर श्रन्त में श्रसुरयोनि में उत्पन्न होते हैं।

(१६३)

संसार के सब श्रविद्वान् (मूर्छ) पुरुष दुःख भोगने वाले हैं। मूढ प्राणी श्रनंत संसार में बार बार लुप्त होते रहते हैं—जन्मते श्रौर मरते रहते हैं।

(888)

मूर्ख जीवों का संसार में बार बार श्रकाम-मरण हुश्रा करता है; परन्तु पंडित पुरुषों का सकाम मरण एक बार ही होता है— उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

(239)

मूर्ख मनुष्य की मूर्खता तो देखो, जो धर्म छोड़ कर, श्रधर्म को स्वीकार कर श्रधार्मिक हो जाता है, श्रौर श्रन्त में नरक-गति को प्राप्त होता है।

(१६६)

सत्य-धर्म के श्रनुगामी धीर पुरुष की धीरता देखो, जो श्रधमं का परित्याग कर धार्मिक हो जाता है, श्रीर श्रन्त में देव-बोक में उत्पन्न होता है।

महावीर-वाणी

(980)

तुलियाण बालभावं, श्रवालं चेव पंडिए। चइऊणं बालभावं, श्रवालं सेवई मुग्गो ॥२०॥ [उत्तरा० श्र॰ गा० २६-३०] (१६७)

विद्वान् मुनि को बाल-भाव श्रीर श्रवाल-भाव का तुलनात्मक विचार कर बाल-भाव छोड़ देना चाहिये श्रीर श्रवाल-भाव हो स्वीकार करना चाहिये।

: १७ :

पंडिय–सुत्तं

(१६८)

समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू। श्रप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेर्ति भूएसु कप्पए॥१॥ [उत्तरा॰ श्र॰ ६ गा० २]

(335)

जे य कंते पिए भोए, लखे वि पिट्टीकुव्वई । साहीं सो चयइ भाए, से हू चाइ ति वुषई ॥२॥

[दश० ग्र० २ गा॰ ३]

(500)

वत्थगन्धमलंकारं, इत्थित्रो सयणाणि य। अच्छन्दा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति वुश्वई॥३॥

[दश० ऋ० २ गा० २]

(२०१)

डहरे य पारो बुड्ढे य पारो, ते श्रत्तश्रो पासइ सन्वलोए। उठवेहई लोगमिगां महन्तं, बुद्धो पमत्तेसु परिव्यएजा॥४॥ [स्त्र० शु० १ श्र० १२ गा० १८]

: 20:

पर्एडत-सूत्र

(१६८)

पिडत पुष्प को संसार-भ्रमण के कारणरूप दुष्कर्भ-पाशों का भली भांति विचार कर अपने आप स्वतन्त्ररूप से सत्य की खोज करना चाहिये, और सब जीवों पर मैत्रीभाव रखना चाहिये।

(338)

जे मनुष्य सुन्दर श्रौर प्रिय भोगों को पाकर भी पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन भोगों का परित्याग कर देता है, वहीं सच्चा त्यागी कहलाता है।

(२००)

जो मनुष्य किसी 'परतन्त्रता के कारण वस्त्र, गन्ध, श्रलंकार, स्त्री श्रीर शयन श्रादि का उपभोग नहीं कर पाता, वह सच्चा त्यागी नहीं कहलाता ।

(२०१)

जो बुद्धिमान मनुष्य मोहनिद्रा में सोते रहने वाले मनुष्यों के बीच रहकर संसार के छोटे-बड़े सभी प्राणियों को अपनी आतमा के समान देखता है, इस महान् विश्व का निरीच्ण करता है, सर्वदा अप्रमन्त भाव से संयमाचरण में रत रहता है वही मोच्चगति का सच्चा अधिकारी है। (२०२)

जे ममाइस्रमइं जहाइ, से जहाइ ममाइस्रं। से हु दिष्टभए मुग्गी, जस्स नित्थ ममाइस्रं॥ ४॥ श्रिमचा०१ श्रु० स्र०२ उ०६ स्०६६]

(२०३)

जहा कुम्मे सर्श्रगाइं, सए देहे समाहरे। एवं पावाइं मेहावी, अन्मप्पेण समाहरे।। ६॥

[सूत्र० श्रु० १ ग्रा० ८ गा० १६]

(२०४)

जो सहस्सं सहस्सागं, मासे मासे गवं दए। तस्स वि संजमो सेयो ऋदिन्तस्स वि किंचगा।। ७॥ [उत्तरा० ऋ० ६ गा० ४०]

(२०४)

नाग्रस्स सञ्वस्स पगासगाय, त्रन्नाग्रमोहस्स विवज्जगाए। रागस्स दोसस्स य संखएगं, एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥ ८॥ (२०६)

तस्सेस मगो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा वालजणस्स दूरा। सज्भायणगन्तिसेवणा य, मुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य॥६॥

(२०२)

जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वह ममत्व का परित्याग करता है। वास्तव में वही संसार से सच्चा भय खाने वाला मुनि है, जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व-भाव नहीं है।

(२०३)

जैसे कछुत्रा त्रापित से बचने के लिये अपने श्रंगों को अपने शरोर में सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पंडितजन भी विषयों की स्रोर जाती हुई अपनी इन्द्रियाँ स्राध्यात्मिक ज्ञान से सिकोड़कर रखें।

(२६४)

जो मनुष्य प्रतिमास लाखों गायें दान में देता है, उसकी श्रपेता कुछ भी न देने वाले का संयमाचरण श्रेष्ठ है।

(२०४)

सब प्रकार के ज्ञान को निर्मल करने से, अज्ञान और मोह के त्यागने से, तथा राग और द्वेष का च्य करने से एकांत सुखस्वरूप मोच्च प्राप्त होता है।

(२०६)

सद्गुरु तथा अनुभवी बृद्धों को सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना, और चित्त में धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह नि:श्रेयस का मार्ग है ।

(२८७)

श्राहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धि। निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं, समाहिकामे समणे तबस्सी॥ १०॥

(२०५)

न वा लभेजा निउगं सहायं, गुणाहियं वा गुणत्रो सम वा। एक्को वि पावाइं विवज्जयन्तो,

विहरेज्ज कामेसु असन्जमाणो॥ ११॥ जितरा० अ० ३२ गा० २-५]

(308)

जाइं च बुहिंद च इहऽज्ज पास,

भूएहिं सायं पडिलेह जारो।

तम्हाऽइविडजी परमं ति नच्चा,

सम्मत्तदंसी न करेइ पावं॥ १२॥

[त्राचा० शु०१: ऋ० ३ उ० २ गा० १]

(२१०)

न कम्मुणा कम्म खवेन्ति बाला, श्रकम्मुणा कम्म खवेन्ति घीरा। मेहाविणो लोभ-भया वईया, संतोसिणों न पकरेन्ति पावं॥ १३॥ स्त्रि० श्रु० १ श्रु० १२ गा० १५]

(२०७)

समाधि की इच्छा रखने वाला तपस्वो श्रमण परिमित तथा शुद्ध श्राहार ब्रह्म करे, निपुण-बुद्धि के तत्वज्ञानी साथी की खोज करे, श्रीर ध्यान करने ये ग्य एकान्त स्थान में निवास करे।

(२०५)

याँद अपने से गुणों में अधिक या समान गुणवाला साथी न मिले, तो पापकर्मों का परित्याग कर तथा काम भोगों में सर्वथा अनासक रहकर अकेला हो विचरे। परन्तु दुराचारों का कभो भूल कर भी संग न करे।

(२०६)

संसार में जनत-मरण के महान दु:खों को देखकर श्रीर यह श्रुच्छी तरह जानकर कि—'सब जीव सुख की इच्छा रखनेवाले हैं' श्रुहिंसा को मोच्च का मार्ग समक्तकर सम्यक्त्वधारी विद्वान कभी भी पाप कर्म नहीं करते।

(२१०)

मूर्ख साधक कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, किन्तु पाप-कर्मों से पाप-कर्मों को कदापि नष्ट नहीं कर सकते । बुद्धिमान साधक वे हैं जो पाप-कर्मों के परित्याग से पाप-कर्मों को नष्ट करते हैं । अप्रतएव ले.भ और भय से रहित सर्वदा सन्तुष्ट रहने वाले मेधावी पुरुष किसी भी प्रकार का पाप-कर्म नहीं करते ।

: १= :

अप्प-सुत्तं

(२११)

श्रापा नई वेयवणी, श्रापा में कूडसामली। श्रापा कामदुहा घेरारू, श्रापा में नन्दनं वर्ण।।१॥ [उत्तरा० श्र० २० गा० ३६]

(२१२)

श्रप्पा कत्ता विकत्ता यः दुहाण य सुहाण य। श्रप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्टिय सुप्पट्टिश्रो॥२॥ [उत्तरा० श्र० २० गा० ३७]

(२१३)

श्रप्पा चेव दमेयव्वो, श्रप्पा हु खलु दुइमो। श्रप्पा दन्तो सुही होइ, श्रस्सि लोए परत्थ य ॥ ३॥ [उत्तरा० श्र०१ गा०१५]

(२१४)

वरं मे अप्पा दन्तों, संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दम्मन्तों, बन्धगोहिं वहेहि य॥४॥
[उत्तरा० अ०१ गा०१६]

: १५ :

श्रोत्म-सूत्र

(२११)

श्रातमा हो नरक की वैतरणों नदो तथा कूट शाल्मली बृद्ध है। श्रात्मा ही स्वर्ग की कामदुधा धेनु तथा नन्दन— वन है।

(२१२)

त्रात्मा ही अपने दु:खों श्रीर सुखों का कर्ता तथा भेका है। अच्छे मार्ग पर चलने वाला श्रात्मा मित्र है, श्रीर बुरे मार्ग पर चलने वाला श्रात्मा शत्रु है।

(२१३)

श्रपने-श्रापको हो दमन करना चाहिये । वास्तव में यहो कठिन है । श्रपने-श्रापको दमन करनेवाला इस लोक तथा परलोक में सुखो होता है।

ं (२१४)

दूसरे लोग मेरा वध बन्धनादि से दमन करं, इसकी अपेत्ता तो मैं संयम और तप के द्वारा अपने-आप ही अपना (आतमा का) दमन करूँ, यह अच्छा है।

(२१४)

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुन्जए जिगो। एगं जिगोन्ज ऋप्पाणं, एस से परमो जस्रो॥४॥ [उत्तरा० ऋ०६ गा० ३४]

(२१६)

श्रप्पाणमेव जुङ्भाहि किं ते जुङ्मेण बङ्भन्त्रो ?। श्रप्पाणमेव श्रप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए॥६॥ (२१७)

पंचिन्दियाणि कोहे. माणं मायं तहेव लोहं च । दुज्जयं चेव श्रप्पाणं, सन्त्रमप्पे जिए जियं ॥७॥ [उत्तरा० त्रा० ६ गा० ३५-३६]

(२१८)

न तं अरी कंठ-छेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा । से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छागुतावेण दयाविहूणो ॥८॥ [उत्तरा० अ० २० गा० ४८]

(२१६)

जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिन्छो, चइज्ज देहं न हु धम्मसासग्।

(२१४)

जो वीर दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धान्त्रों को जीतता है, यदि वह एक ऋपनी ऋतमा को जीत ले, तो यही उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय होगी।

(२१६)

श्रपनी त्रात्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिये, बाहरो स्थ्ल शत्रुश्रों के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ? श्रात्मा द्वारा श्रात्मा को जोतने वाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।

(२१७)

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सबसे ऋधिक दुर्जय ऋपनी ऋात्मा को जीतना चाहिये। एक ऋात्मा के जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।

(२१८)

सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना दुराचरण में लगी हुई अपनी आतमा करती है। दयाशून्य दुराचारों को अपने दुराचरणों का पहले ध्यान नहीं आता; परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणों को याद कर-कर पछताता है।

(३१६)

जिस साधक की त्रात्मा इस प्रकार हट्निश्चयी हो कि भैं शरोर छोड़ सकता हूँ, परन्तु त्रपना धर्म-शासन छोड़ हो नहीं सकता: तं तारिसं नो पयालेन्ति इन्दियाः उवेन्ति वाया व सुदंसएां गिरिं ॥६॥

[दश० चूलिका १ गा० १७]

(२२८)

श्रप्पा खलु सययं रिक्खयन्त्रो, सिन्त्रिन्दिएहिं सुसमाहिएहिं। श्रामिखश्रो जाइएहं उनेइ, सुरिक्खश्रो सन्त्रदुक्खाण मुच्चइ ॥१०॥ [दश० चूलिका २ गा० १६]

(२२१)

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवों वुच्चइ नाविस्रो । संसारो स्रयणवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥११॥ [उत्तरा० स्र० २३ गा० ७३]

(२२२)

जो पव्यइत्ताण महत्र्ययाष्टं, सम्मं च नो फासयई पमाया । इमिगाहप्पा य रसेसु गिद्धं, न मृतस्रो छिन्दइ बन्धणं से ॥१२॥ [उत्तरा० श्रब्द्र गा० ३६] उसे इन्द्रियाँ कभी विचलित नहीं कर सकतीं, जैसे—भीषण बवंडर सुमेर पर्वत को ।

(२२०)

समस्त इन्द्रियों को खूब अञ्छी तरह समाहित करते हुये पापों से अपनी आत्मा की निरंतर रक्षा करते रहना चाहिये। पापों से अरिक्त आत्मा संसार में भटका करती है, और सुरिक्त आत्मा संसार के सब दु:खों से मुक्त हो जाती है।

(२२१)

शारीर को नाव कहा है, जीव को नाविक कहा जाता है, स्रीर संसार को समुद्र बतलाया है। इसी संसार-समुद्र को महर्षिजन पार करते हैं।

(२२२)

जो प्रविज्ञत होकर प्रमाद के कारण पांच महावतों का अञ्छी तरह पालन नहीं करता, अपने-आपको निग्रह में नहीं रखता, काम-भोगों के रस में आसक हो जाता है, वह जन्म-मरण के बन्धन को जड़ से नहीं काट सकता।

: 38 :

लोगतत्त-सुत्तं

(२२३)

धम्मो श्रहम्मो श्रागासं, कालो पुग्गल जंतवो । एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिसोहिं वरदंसिहिं ॥१॥ [उत्तरा० श्र० २८ गा० ७]

(२२४)

गइलक्खणो धम्मो, श्रहम्मो ठाणलक्खलणो । भायणं सन्बद्न्त्राण, नहं श्रोगाहलक्खणं ॥२॥

(२२४)

वत्तरणालक्खणो कालोः जीवो उवश्रोगलक्खणो । नार्णेणं दंसर्णेगं च, सुहेगः य दुहेगः य ॥३॥

(२२६)

नाणं च दंसणं चेव, चरितं च तवो तहा । वीरियं उत्रत्रोगो य, एयं जावस्स लक्खणं ॥४॥ (२२७)

सहं ऽधयार-उज्जोस्रो, पहा छायाऽऽतवे इ वा । वरण-रस गन्ध-फासा, पुग्गलाग तु लक्खणं ॥४॥ िउत्तरा० स्र० २८ गा० ६-१२ ो

: 38 :

लोकतत्त्व-स्रत्र

(२२३)

धर्म, त्राधर्म, त्राकाश, काल, पुद्गल क्रीर जीव—ये छह द्रव्य हैं। केवलदर्शन के धर्ता जिन भगवानों ने इन सबको लोक कहा है।

(२२४)

धर्मद्रव्य का लच्चण गति है; ऋधर्मद्रव्य का लच्चण स्थिति है; सब पदार्थों को अवकाश देना—आकाश का लच्चण है।

(२२४)

काल का लक्षण वर्तना है, श्रीर उपयोग जीव का लक्षण है। जीवातमा ज्ञान से, दर्शन से, सुख से, तथा दुख से जाना-पहचाना जाता है।

(२२६)

श्रतएव शान, दर्शन, चारिन्य, तप, वीर्य श्रीर उपयोग—यें सब जीव के लज्ञण हैं।

(२२७)

शब्द, ऋन्धकार, उजाला, प्रमा, छाया, ऋातप (धूप), वर्गा, गन्ध, रस ऋौर स्पर्श—ैये सब पुद्गल के लक्षण हैं।

(२२८) जीवाऽजीवा य बन्धो य पुरुगां पावाऽसर्वो तहा । संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥६॥

(२२६) तहियागां तु भावागां, सब्भावे उत्रएसगां। भावेगां सहहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥७॥ उत्तरा० ग्र० २८ गा० १४-१५

(२३०) नागोगा जागाइ भावे, दंसगोगां य सद्दहे। चरित्तेग निगिरहाइ, तवेग परिसुक्मइ ॥८॥ [उत्तरा० अ० २८ गा० ३५]

(२३१) नागा च दंसगां चेत्र, चरित्तं च तत्रो तहा । एयं मग्गमगुष्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सुगाई ॥६॥ उत्तरा० ग्र० २८ गा० ३

(२३२)

तत्थ पंचविहं नागां, सुयं त्राभिनिबोहियं। त्रोहिनाएं तु तइयं, मणनाएं च केवलं ।। १० ॥ [उत्तरा० ग्र० २८ गा० ४]

(२३३–२३४) नाग्रस्सावर्गिःजं. दंसगावर्गं तहा। वेयिगिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥ ११ ॥ नामकम्मं च गोत्तं च, अन्तरायं तहेव य। एवमेयाइं कम्माइं, ऋट्ठेव उ समासत्र्यो ॥ १२ ॥ [उत्तरा० श्र8 ३३ गा० २-३]

(२२८)

जीव, ख्रजीव, बन्ध, पुरस, पाप, ख्रास्त्रव, संवर, निर्जरा ख्रीर मौन्न---ये नव सत्य-तत्व हैं।

(२२६)

जीवादिक सत्य पदार्थों के ग्रस्तित्व में सद्गृह के उपदेश से, ग्रथवा स्वयं ही ग्रपने भाव से श्रद्धान करना, सम्यक्त्व कहा गया है।

(२३०)

मुमुच स्रात्मा ज्ञान से जीवादिक पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र्य से भोग-वासनात्र्यों का निग्रह करता है, स्रीर तप से कर्ममलरहित होकर पूर्णतया शुद्ध हो जाता है।

(२३१)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य श्रीर तप—इस चतुष्ट्य श्रथ्यात्ममार्ग को प्राप्त होकर मुमुज्ञ जीव मोज्ञरूप सद्गति पाते हैं।

(२३२)

मति, श्रुत, त्र्यवधि, मन:पर्याय त्र्योर केवल-इस माँति ज्ञान पाँच प्रकार का है।

(२३३-२३४)

,ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय,त्रायु, नाम, गोत्र ग्रोर ग्रन्तराय-इस प्रकार संत्वेष में ये ग्राठ कर्म बतलाये हैं।

(२३४)

सो तवो दुविहो वुत्तो वाहिरब्भन्तरो तहा। बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो।।१३॥

(२३६)

श्रम् सम्बायित्या स्त्रपिश्वाश्ची। कायिकलेसी संलीम्या य, वडमी तवी होई ॥१४॥ [उत्तरा० श्र० ३० मा० ७-८]

(२३७)

पायच्छित्तं विग्रञ्जो, वेयावच्चं तहेव सङ्भात्रो । भागं च विउस्सन्नो, एसो छव्मिन्तरों तवो ॥१४॥ [उत्तरा० ग्र० ३० गा० ३०]

(२३८)

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य । सुक्कलेसा य छट्ठा, नामाइं तु जहक्कमं ॥१६॥ [उत्तरा० श्र० ३४ गा० ३]

(२३६)

किएहा नीला काऊ, तिम्नि वि एयात्रो श्रहम्मलेसात्रो । एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गःइं उत्रवज्जइ ॥१०॥ (२४०)

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयात्रो धम्मलेसात्रो । एयाहि तिहि वि जीवो, सुगाई उववज्जइ ॥१८॥ [उत्तरा० ऋ० ३४ गा० ५६-५७]

लोकतत्त्व-सूत्र

(२३४)

तप दो प्रकार का बतलाया गया है—बाह्य और अभ्यंतर। बाह्य तप छह प्रकार का कहा है, इसी प्रकार अभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है।

(२३६)

त्रमशन, ऊने दरी, भिन्नाचरी, रसपरित्याग, काय-क्लेश त्रौर संलेखना-ये बाह्य तप हैं।

(२३७)

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान ग्रीर व्युत्सर्ग —ये ग्रभ्यन्तर तप हैं।

(२३८)

कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म स्रोर शुक्ल—ये लेश्यास्रां के कमश: छह नाम हैं।

(२३६)

कृष्ण, नील, कापोत—पे तीन अधर्म-लेश्याएं हैं। इन तीनों से युक्त जीव दुर्गति में उत्तन होता है।

(280)

तेज, पद्म ऋीर शुक्ल—ये तीन धर्म-लेश्याएं हैं। इन तीनों से युक्त जीव सद्गति में उत्पन्न होता है।

(२४१)

अट्ठ पवयणमायात्रोः समिई गुत्ती तहेव य । पंचेव य समिईस्रो, तस्रो गुत्तीस्रो स्नाहिया ॥१६॥

(२४२)

इरियाभासेसणादाणे, उचारे समिई इय । मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य श्रष्टमा ॥२०॥

[उत्तरा० ऋ० २४ गा० १-२]

(२४३)

एयात्रो पंच समिईत्रो, चरणस्स य पवत्तणे । गुत्ती नियत्तणे वृत्ता, त्र्रासुभत्थेसु सन्त्रसो ॥२१॥

(२४४)

एसा पवयर्णमाया, जे सम्मं स्थायरे मुग्री । से खिप्पं सन्वसंसारा, विष्यमुच्चइ पंडिए ॥२२॥ [उत्तरा० ग्र० २४ गा० २६-२७]

(२४१)

पांच समिति ग्रौर तीन गुप्ति—इस प्रकार ग्राठ प्रवचन-माताएं कहजाती हैं।

(२४२)

ईर्या, भाषा, एपणा, ब्रादान-नित्तेष श्रीर उच्चार-ये पाँच समितियाँ हैं। तथा मनेश्विष्ठां, वचनगुप्ति श्रीर कायगुप्ति-ये तीन गुप्तियाँ हैं। इस प्रकार दोनों मिलकर ब्राट प्रयचन-माताएँ हैं।

(२४३)

पाँच समितियाँ चारित्र की दया त्रादि प्रवृत्तियों में काम त्राती हैं और तीन गुप्तियां सब प्रकार के ऋशुभ व्यापारों से निवृत्त होने में सहायक होती हैं।

(३४४)

जो विद्वान् मुनि उक्त त्राठ प्रवचन-मातात्र्यों का श्रच्छी तरह श्राचरण करता है, वह शीघ हो श्रखिल संसार से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। :२०:

पुज्ज-सुत्तं

(२४४)

श्रायारमहुा विण्यं परंजे, सुस्सूसमाणो परिगिज्म वक्कं जहोबइट्टं श्रमिकंखमाणो, गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥१॥

(२४६)

श्रन्नायउंछं चरइ विसुद्धं, जवणद्वया समुयाणं च निच्चं। श्रलद्धुयं नो परिदेवएउजा, लद्धुं न विकत्थई स पुज्जो॥२॥

(२४७)

संथारसेज्जासणभत्तवाणे, ऋष्पिच्छया ऋइलाभे वि सन्ते । जो एत्रमप्पाणऽभितोसएज्जा, संतोसपादृत्ररण स पुज्जो ॥३॥

: २० :

पूज्य-स्नत्र

(२४४)

जो त्र्याचार-प्राप्ति के लिये विनय का प्रयोग करता है, जो भिक्तपूर्वक गुरु-वचनों को सुनता है एवं स्वीकृत कर वचनानुसार कार्य पूरा करता है, जो गुरु की कभी त्र्रशातना नहीं करता वही पूज्य है।

(२४६)

जो केवल संयम-यात्रा के निर्वाह के लिये अपिरिचितभाव से दोष-रहित भिद्यावृत्ति करता है, जो आहार आदि न मिलने पर भी खिन्न नहीं होता और मिल जाने पर प्रसन्न नहीं होता वही पूज्य है।

(२४७)

जो संस्तारक, शय्या, ग्रासन ग्रीर भोजन-पान ग्रादि का ग्रिधिक लाभ होने पर भी ग्रपनी ग्रावश्यकता के ग्रानुसार थोड़ा ग्रहण करता है, सन्तोष की प्रधानता में रत होकर ग्रपने-ग्रापको सदा संतुष्ट बनाये रखता है, वही पूज्य है। (२४८)

सक्का सहेउं आसाइ कंटयाः अश्रोमया उच्छहया नरेण । अणासए जो र सहेजज्जंटए, वईमए करणसरे स पुज्जो ॥४॥ (२४६)

समावयन्ता वयसाभिघाया, करणौ गया दुम्मिणयं जसन्ति । धम्मो त्ति किच्चा परमग्मसूरे, जिइन्दिए जो सहइ स पुज्जो ॥४॥ (२४०)

श्रवएणवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खन्त्रो पढिणीयं च भासं ।
श्रोहारिणि श्रप्पियकारिणि च,
भासं न भासेऽज सया स पुऽजो स६॥
(२४१)

श्रतोतुए श्रक्कहए श्रमाई, श्रिपुरो या वि श्रदीणवित्ती । नो भावए नो वि य भावियण्पा, श्रकोडहल्ले य सया स पुन्तो ॥ ॥

(२४도)

संसार में लोभो मनुष्य किसी विशेष ह्याशा की पूर्ति के लिये लोह-कंटक भी सहन कर लेते हैं, परन्तु जो बिना किसी ह्याशां-तृष्णा के कानों में तीर के समान चुभने वाले दुर्वचन- रूपी कंटकों को सहन करता है, वही पूष्य है।

(२४६)

विरोधियों की छोर से पड़नेवाली दुर्वचन की चोटें कानों में पहुँचकर बड़ी मर्मान्तक पीड़ा पैदा करती हैं; परन्तु जो च्रमाश्रूर जितेन्द्रिय पुरुष उन चोटों को छपना धर्म जानकर समभाव से सहन कर लेता है, वही पृष्य है।

(२४०)

जो परेन्द्र में किसी की निन्दा नहीं करता, प्रत्यन्त्र में भी कलह-वर्धक श्रंट-संट बातें नहीं बकता, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली एवं निश्चयकारो भाषा नहीं बोलता, वही पूज्य है।

(२४१)

जो रसलालुप नहीं है, इन्द्रजाली (जादू—टेना करनेवाला) नहीं है, मायावी नहीं है, खुगलखं र नहीं है, दोन नहीं है, दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनने की इच्छा नहीं रखता, स्वयं भी अपने मुंह से अपनी प्रशंसा नहीं करता, खेल—तमाशे आदि देखने का भी शीर्कन नहीं है, वहीं पृष्य है। (२४२)

गुगेहि साहू अगुगेहिऽसाहू,

गिग्हाहि साहू गुग मुद्धऽसाहू।
वियाणिया अप्यामप्पएगं,

जो रागदोसेहिं समी स पुज्जो ॥=॥

(२४३)

तहेव डहरं च महल्लगं वा, इत्थी पुमं पञ्चइयं गिहिं वा । नो होलए नो विय खिंसएज्जा, थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥६॥

(২২৪)

तेसि गुरूणं गुणसायराणं, सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं। चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो, चउक्कसायावगए स पुज्जो॥१०॥

> [दश॰ ग्र० ६ उ० ३ गा० २-४-५-६-८ ६-१०-११-१२-१४]

(२४२)

गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु, अत: हे मुमुत्तु ! सद्गुणों को प्रहण कर और दुगु णों को छोड़ । जो साधक अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूपकोपहचान कर राग और द्वेष दोनों में समभाव रखता है, वही पूज्य है ।

(२४३)

जो बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, साधु, ख्रीर ग्रहस्थ ख्रादि किसी का भी ख्रपमान तथा तिरस्कार नहीं करता, जो क्रोध ख्रीर ख्रिमिमान का पूर्णाह्य से परित्याग करता है, वही पूज्य है।

(२५४)

जो बुद्धिमान् मुनि सद्गुण-सिन्धु गुश्जनों के सुभाषितों को सुनकर तदनुसार पाँच महावतों में रत होता है, तीन गुप्तियाँ धारण करता है, श्रीर चार कषायों से दूर रहता है, वही पूज्य है।

: २१ :

माहगा-सुत्तं

(२४१)

जो न सज्जइ आगन्तुं, पठ्ययन्तो न सोयई। रमइ अञ्जवयण्मिन, तं वयं बूम माहण् ॥१॥

(२४६)

जायरूवं जहामहं, निद्धन्तमल-पावगं। राग-दोस-भयाईयं, त वयं वूम माहणं॥२॥

(২২৩)

तवस्मियं किसं दन्तं. अवचियमंससोिणयं । सुत्रत्यं पत्तनिव्वार्णं तं वयं वूम माहर्ण ॥३॥

(২১५)

तसपाणे वियाणिता, संगहेण य थावरे। जो न हिंसइ तिविहेणं तं वयं वूम माहणं ॥४॥

: २१ :

त्राह्मग्-सूत्र

(२४४)

जो त्रानेवाले स्नेही-जनों में त्रासक्ति नहीं रखता, जो जाता हुत्रा शोक नहीं करता, जो त्रार्य-वचनों में सदा त्रानन्द पाता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२४६)

जो त्राग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए स्रोर कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, द्वोष तथा भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(২২৬)

जो तपस्वी है, जो दुबला-पतला हे, जो इंद्रिय-निग्रही है, उग्र तप:साधना के कारण जिसका रक्त छौर मांस भी सूख गया है, जो शुद्धवती है, जिसने निर्वाण (श्रात्म-शान्ति) पा लिया है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२१도)

जो स्थावर, जंगम सभी प्राणियों को भलीभाँति जानकर, उनकी तीनों हो प्रकार * से कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

^{*} मन, वाणी क्रीर शरीर से; अथवा करने, कराने क्रीर अनुमोदन से।

(२४६)

कोहा वा जइ हासा, लोहा वा जइ वा भया। मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं।।४।।

(२६०)

चित्तमन्तमचित्तं वा, श्रप्पं वा जइ वा बहुं। न गिएहाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहएां॥६॥

(२६१)

दिन्व-मागुस-तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुगां। मणुसा काय-ववकेणं, तं वयं वूम माहगां॥॥।

(२६२)

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिगा। एवं श्रलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहग् ॥८॥

(२६३)

श्रलोलुयं मुहाजीविं, श्राणगारं श्रकिंचणं। श्रसंसत्तां गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं॥॥॥

(२४६)

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ त्रथवा भय से—िकसी भी मलिन संकल्प से त्रसत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६०)

जो सचित्त या श्रचित्त कोई भी पदार्थ — भले ही वह थोड़ा हो या श्रधिक, — मालिक के सहर्प दिये बिना चोरी से नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६१)

जो देवता, मनुष्य तथा तियेच सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन का मन, वाणी श्रीर शरीर से कभी सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६२)

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम—भोगों से सर्वथा ऋलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६३)

जो श्रतोलुप है, जो श्रनासक—जीवी है, जो श्रनगार (बिना घरबार का) है, जो श्रकिचन है, जो गृहस्थों से श्रिलिप्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६४)

जहित्ता पुब्य-संजोगं, नाइसंगे य वन्धवे । जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं वूम माहणं ॥१०॥

(२६४)

न वि मुंडिएण समगो, न श्रोंकारेण बंभणो । न मुगी रण्णवासेणं, कुसचीरेण ण तावसो ॥११॥

(२६६)

समयाए समगो होइ, बंभचेरेण बंभगो। नागोग मुगी होइ, तवेग होइ तावसो ॥१२॥

(२६७)

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिको । वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥१३॥

(२६ =)

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था समुद्धतुं, परमप्पाणमेव य ॥१४॥
[उत्तरा० ग्रा० २५ गा० २० से २६,३१-३२-३३-३५]

(२६४)

जो स्त्री-पुत्र स्त्रादि का स्नेह पैदा करनेवाले पूर्व सम्बन्धों को, जाति-विरादरी के मेल-जोल को तथा बन्धु-जनों को एक बार त्याग देने पर उनमें किसी प्रकार की स्त्रासिक नहीं रखता, पुन: काम-भोगों में नहीं फॅसता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६४)

सिर मुँडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, 'श्रोम्' का जाप कर लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, निर्जन वन में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, श्रीर न कुशा के बने वस्त्र पहन लेने मात्र से कोई तपस्वी ही हो सकता है।

(२६६)

समता से श्रमण होता है; ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है; ज्ञान से मुनि होता है; श्रीर तप से तपस्वी बना जाता है।

(२६७)

मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही चित्रय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और शूद्र भी अपने किए गए कर्मों से ही होता है। (अर्थात् वर्ण-भेद जन्म से नहीं होता। जो जैसा अञ्छा या बुरा कार्य करता है, वह वैशा ही ऊँच या नीच हो जाता है।)

(२६८)

इस भांति पवित्र गुणों से युक्त जो द्विजे तम [श्रेष्ठ ब्राह्मण] हैं, वास्तव में वे ही क्रपना तथा दूसरों का उद्धार कर सकने में समर्थ हैं।

: २२ :

भिक्खु-सुत्तं

(२६६)

रोइश्च नायपुत्त-वयगे, ऋषसमे मन्ने ज छ पि काए। पंच य फासे महन्त्रयाइं, पंचासवसंवरे जे स मिक्खू॥१॥

(২৩০)

चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी य हविज्ञ बुद्धवयगो । छाहगो निज्जायरूव-रयए, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्ख् ॥२॥

(२७१)

सम्मिदिही सया अमृहे। अतथ हु नागो तव-संजमे य। तवसा धुगाइ पुरागा पावगं, मण-वथ-कायसुसंबुढे जे स भिवल् ॥३॥

: 52 :

भिज्ञु-स्त्र

(335)

जो ज्ञातपुत्र—भगवान महार्वार के प्रवचनों पर श्रद्धा रखकर इह काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता है, जो अहिंसा आदि पाँच महावतों का पूर्ण रूप से पालन करता है, जें पाँच आस्त्रवों का संवरण अर्थात् निरोध करता है, वहों मिद्ध है।

(२७ -)

जो सदा कोध, सान, माया छोर लोभ इन चार कपायों का परित्याग करता है, जो जानी पुर्षों के दचनों का इद्विश्वासी रहता है, जो चाँदो, सोना छादि किसी भी प्रकार का परिष्रह नहीं रखता, जो रहरथों के साथ कोई भी सांसारिक रनेह-सम्बन्ध नहीं जोड़ता, वही भित्तु है।

(२७१)

जो सम्यग्दर्शी है, जो कर्तव्य-विमृद् नहीं है, जो ज्ञान, तप ग्रीर संयम का दृढ़ श्रद्धालु है, जो मन, वचन ग्रीर शरीर को पाप-पथ पर जाने से रोक रखता है, जो तप के द्वारा पूर्व-कृत पाप-कर्मी को नष्ट कर देता है, वहीं भिन्नु है। (२७२)

न य बुगाहियं कहं कहिज्जा, न य कुप्पे निहुइन्दिए पसन्ते । संजमधुवजोगजुत्ते, खबसंते श्रविहेडए जे स भिक्खू ॥४॥

(২৩३)

जो सहइ हु गामकंटए, श्रक्कोस--पहार--तज्जणात्रो य।

भय-भेरव-सद्--सप्पहासे, समसुह-दुक्खसहे जे स भिक्खू ॥४॥

(২৩४)

श्रिभिभूय काएण परिसहाइं, समुद्धरे जाइपहाउ श्रप्पयं। विइत्तु जाई--मरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥६॥

(२७१)

हत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए संनइन्दिए।

(२७२)

जो कलहकारी वचन नहीं कहता, जो क्रीध नहीं करता, जिसकी हिन्द्रयाँ अचंचल हैं, जो प्रशान्त है, जो संयम में ध्रुवयोगी (सर्वथा तल्लीन) रहता है, जो संकट आने पर ज्याकुल नहीं होता, जो कभी योग्य कर्तव्य का अनादर नहीं करता, वही भिन्तु है।

(२७३)

जो कान में कांटे के समान चुभनेवाले आक्रोश—वचनां को, प्रहारों को, तथा अयोग्य उपालंभों को शान्तिपूर्वक सह लेता है, जो भीषण अहहास और प्रचरड गर्जना वाले स्थानों में भी निर्भय रहता है, जो सुख-दु:ख दोनों को समभावपूर्वक सहन करता है, वहीं भिद्ध है।

(২৩४)

जो शरीर से परीपहों को धेर्य के साथ सहन कर संसार-गर्त से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभयंकर जानकर सदा श्रमणोचित तपश्चरण में रत रहता है, वही भिन्तु है।

(२७४)

जो हाथ, पाँव, वाणी श्रीर इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है, जो सदा श्रध्यातम-चिंतन में रत रहता है, जो श्रपने श्रापको अजमत्परण सुसमाहिश्रप्पाः सुत्तत्थं च थियाणइ जे स भिक्ख् ॥७॥ (२७६)

उबिहिम्म अमुच्छिए अगिद्धे, अन्नायउंछं, पुलिन्पुलाए। कयविक्कयसन्निहिस्रो विरए, सन्वसंगावगए य जे स भिक्ख्॥=॥

(२७७)

श्रतोल भिक्खू न रसेंसु गिद्धे, उंछं चरे जीविय नाभिकंखे। इडिंढ च सक्कारण-पूयणं च, चए ठियप्या श्रिणिहे जे स भिक्ख्॥॥

(२७५)

न परं बइडजासि अयं कुसीले, जेगां च कुप्पेडज न तं वएडजा । जागिय पत्तेयं पुरुषा--पावं, श्रंत्ताणं न समुवकसे जे स भिक्ख ॥१०॥ भली भाँति समाधिस्थ करता है, जो स्त्रार्थ को पूरा जाननेवाला है, वही भिन्नु है ।

(२७६)

जो अपने संयम-साधक उपकरणों तक में भी मूर्च्छा (आसित) नहीं रखता, जो लालची नहीं है, जो अज्ञात परिवारों के यहाँ से भिद्धा माँगता है, जो संयम-पथ में बाधक होनेवाले दोषों से दूर रहता है, जो खरीदने बेचने और संग्रह करने के ग्रहस्थोचित धन्धों के फेर में नहीं पड़ता, जो सब प्रकार से नि:संग रहता है, वहीं भिद्ध हैं।

(২৬৬)

जो मुनि अले लुप है, जो रसो में अयद है, जो अज्ञात दुल की मित्ता करता है, जो जीवन की चिन्ता नहीं करता, जो ऋदि, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा का मोह छोड़ देता है, जो स्थितात्मा तथा निस्पृही है, वही भिद्ध है।

(२७=)

जो दूसरों को 'यह दुराचारी है' ऐसा नहीं कहता, जो करु वचन—जिससे सुननेवाला जुन्ध हे — नहीं बोलता, 'संब जीव अपने अपने शुभाशुभ कमों के अनुसार हो सुख-दु:ख भोगते हैं।' — ऐसा जानकर जो दूसरों की निन्द्य चेष्टाओं पर लच्च न देकर अपने सुधार की चिंता करता है, जो अपने आपको उम्र तप और स्थाग आदि के गर्व से उद्धत नहीं बनाता, वहीं भिन्नु है।

(२७६)

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएए मन्ते। मर्याएि सञ्ज्ञाणि विवज्ज्ञयंतो, धम्मज्भाणरए जे स भिक्ख ॥११॥

(६५०)

पवेयए श्राज्जपयं महामुगी, धम्मे ठिश्रो ठावयई परं पि। निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं, न यावि हासंकुहए जे स भिवस्तू ॥१२॥

(२८१)

तं देहवासं श्रमुई श्रमासयं, सया चए निच्चहियद्वियणा। बिंदित्तु जाईमरसस्स बंधर्ण। उवेइ भिक्खू श्रपुरणागमं गई ॥१३॥

> [दश० ग्राट १० गाट ५-६-७-१०-११, १४ से २१]

(30%)

जो जाति का श्रिममान नहीं करता; जो रूप का श्रिममान नहीं करता; जो लाभ का श्रिममान नहीं करता, जो श्रुत (पांडित्य) का श्रिममान नहीं करता; जो सभी प्रकार के श्रिममानों का परित्याग कर केवल धर्म-ध्यान में ही रत रहता है; वही भिद्ध है।

(२५०)

जो महामुनि ऋार्यपद (सद्धर्म) का उपदेश करता है; जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरों को भी धर्म में स्थित करता है; जो धर-गृहस्थी के प्रपंच से निकल कर सदा के लिये कुशील लिंग (निन्चवेश) को छोड़ देता है; जो किसी के साथ हँसी-ठट्टा नहीं करता; बही भिद्ध है।

(२८१)

इस भाँति अपने को सदैव कल्यागा—पथ पर खड़ा रखनेवाला भिन्नु अपवित्र और दाणभंगुर शर्कर में नियास करमा हमेशा के लिये छोड़ देता है; जनम-मरण के बन्धमों को सर्वधा काटकर अपुनरागमगति (मोन्न) को प्राप्त होता है।

ः २३ ः

मोक्खमग्ग-सुत्तं

(२५२)

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ? कहं भुंजन्तो भासन्तो पार्व कम्मं न बन्धइ ? ॥१॥

(२८३)

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए । जयं सु'जन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ॥२॥

(२८४)

सञ्बभूयणभूयस्स सम्मं भूयाइं पासश्रो । पिहियासवस्स दन्तस्स पावं कम्मं न बन्धइ ॥३॥

(२५४)

पढम नाणं तत्रो दया एवं चिट्ठइ सन्त्रसंजए । स्रज्ञाणी किं काही किंवा नाहिइ छेय-पवागं ? ॥४॥

: ३२ :

मोचमार्ग-सत्र

(२=२)

भन्ते ! केंसे चते ? केंसे खड़ा हो ? कैंसे बठे ? कैंसे सोये ? कैंसे भोजन करे ? कैंसे बोले ?—जिससे कि पाप-कर्म का बन्ध न हो।

- (২ন३)

ग्रायुष्पन् ! विवेक से चले; विवेक से खड़ा हो; विवेक से बैठे; विवेक से सोये; विवेक से भोजन करे; ग्रीर विवेक से ही बोले, तो पाप-कर्म नहीं बाँव सकता ।

(२५४)

जो सब जीवां को अपने समान समभता है, अपने-पराये, सबको समान हिंह से देखता है, जिसने सब आस्त्रवों का निरोध कर लिया है, जो चंचल इन्द्रियों का दमन कर चुका है, उसे पाप-कर्म का बन्यन नहीं होता ।

(국도본)

पहले ज्ञान है, बाद में दया। इसी क्रम पर समग्र त्यागीवर्ग अपनी संयम-यात्रा के लिये ठहरा हुन्त्रा है। भला, अज्ञानी मनुष्य क्या करेगा १ श्रेय तथा पा। को वह कैसे जान सकेगा १

(२८६)

सोच्चा जागाइ कल्लागां सोच्चा जागाइ पावगं । उभयं पि जागाइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥४॥

(২=৩)

जो जीवे वि न जाग्रह, श्वजीवे वि न जाग्रह। जीवाऽतीवे श्रयाग्तो कहं सो नाहीइ संजम ? ॥ ३॥

(२८८)

जो जीवे वि वियागाइ, श्रजीवे वि वियःगाइ । जीवाऽजीवे वियागांतो, सो हु नाहोइ संजमं ॥ ॥

(२८६)

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ । तया गइ' बहुविहं. सत्वजीवाण जाणइ ॥८॥

'(२६०:)

जया गइं बहुविद्दं सञ्वजीवाग जाग्रह । तया पुरुगां च पावं च बंध मोक्खं च जाग्रह ॥६॥

(ः२म्म**६**ः)ः

सुनकर ही कल्याण का मार्ग जाना जाता है। सुनकर ही पाप का मार्ग जाना जाता है। दोनों ही मार्ग सुनकर जाने जाते हैं। बुद्धिमान साधक का कर्तव्य है कि पहले अवण करे और फिर अपने को जो अय मालूम हो, उसका आचरण करे।

(২দও)

जो न तो जीव (चेतनतत्व) को जानता है, श्रौर न श्रजीव (जड़तत्व) को जानता है, वह जीव-श्रजीव के स्वरूप को न जाननेवाला साधक, भला किस तरह संयम को जान सकेगा?

(२==)

जो जीव को जानता है श्रीर श्रजीव को भी वह नीव श्रीर श्रजीव दोनों को भलीभाँति जानने वाला साधक ही संयम को जान सकेगा।

(२८६)

जब जीव श्रीर श्रजीव दोनों को मलीमाँति जान लेता है, तब वह सब जीवों की नानाविध गति (नरक तियेच श्रादि) को भी जान लेता है।

(२६०)

जब वह सब जीवों की नानाविध गतियों को जान लेता है, तब पुराय, पाप, बन्ध श्रीर मोच्च को भी जान लेता है।

(288)

जया पुरुषा च पावं च बंधं मोक्खं च जागइ। तया निर्विदए भोए जे दिव्वे जे य मासुसे ॥१०॥

(२६२)

जया निविवद्ए भोए जे दिव्वे जे य मासुसे । तया चयइ संजोगं सहिभन्तरं वाहिरं॥११॥

(३६३)

जया चयइ संजोगं सव्भिन्तरं वाहिरं। तया मुख्डे भवित्ताणं पव्त्रयइ ऋग्गगारियं॥१२॥

(२,६४)

जया मुख्डे भवित्ताण पव्त्रयइ द्यणगारियं । तया संवरमुक्किट्टं घम्मे फासे द्यगुत्तरं ॥१३॥

(२६४)

जया सवरमुक्तिहः धम्मं फासे ऋगुत्तरं । तया धुणइ कम्मरयं अवोहिकलुसं कड ॥१४॥

(388)

ज्ञत्र (साधक) पुरय, पाप, बन्ध ऋर मोस्त को जान लेता है, तब देवता ऋरेर मनुष्य संबन्धी काम-भोगों की निर्गुणता जान लेता है—ऋर्थात् उनसे विरक्त हो जाता हैं!

(२६२)

जब देवता श्रीर मनुष्य संबन्धी समस्त काम-मोगों से (साधक) विरक्त हो जाता है, तब अन्दर श्रीर बाहर के सभी सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ देता है।

(२६३)

अब अन्दर अर बाहर के समस्त सांसारिक सम्बन्धों को छेड़ देता है, तब मुख्डित (दोन्नित) होकर (साधक) पूर्णतया अनगार बृत्ति (मुनिचर्या) को प्राप्त करता है।

(558)

जब मुण्डित होकर अनगार वृत्ति को प्राप्त करता है, तब (साधक) उत्कृष्ट संवर एवं अनुसर धर्म का स्पर्श करता है

(REX)

जब (साधक) उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श व स्ता है, तब (अन्तरात्मा पर से) अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को भाड़ देता है।

(२६६)

जया धुइए कम्मरयं ऋवोहिकलुसं कडं । तया सञ्बत्तगं नाएां दंसएां चाभिगच्छइ ॥१४॥

(२६७)

जया सन्त्रत्तर्ग नाणं दंसणं चाभिगच्छइ । तया लोगमलोगं च जिलों जाणइ केवली ॥१६॥

(२६६)

जया लोगमलोगं च जिस्सो जासाइ केवली । तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसि पडिवज्जइ ।।१७॥

(335)

जया जोगे निरुभित्ता सेलेसि पहिवद्य । तया कम्मं खिचताएं सिद्धि गच्छइ नीरस्रो ॥१८॥

(300)

जया कम्मं खिवत्तारा सिद्धि गच्छइ नीरश्रो। तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासश्रो॥१६॥

मोज्ञमार्ग-सूत्र

(२६६)

जब (अन्तरात्मा पर से) अशानकालिमाजन्य कर्म-मल की दूर कर देता है, तब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्त कर लेता है।

(२६७)

जब सर्वत्रगामी केवलज्ञान श्रौर केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब जिन तथा केवली होकर लोक श्रौर श्रालोक को जान लेता है।

(२६५)

जब केवलज्ञानी जिन लोक-अर्लोकरूप समस्त संसार को जान लेता है, तब (श्रायु समाप्ति पर) मन, वचन श्रीर शरीर की प्रवृत्ति का निरोध कर शैलेशी (श्रचल-श्रकम्प) श्रवस्था को प्राप्त होता है।

(335)

जब मन, वचन ख्रौर शरीर के योगों का निरोध कर ख्रात्मा शैलेशी ख्रवस्था पाती है—पूर्णरूप से स्पन्दन-रहित हो जाती है, तब सब कर्मों को स्वय कर—सर्वथा मल-रहित होकर सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होती है।

(३००)

जब त्रात्मा सब कर्मों को च्रय कर—सर्वथा मलरहित होकर सिद्धि को पा लेती है, तब लोक के—मस्तक पर—ऊपर के त्राप्र भागपर स्थित होकर सदा काल के लिए सिद्ध हो जाती है।

महाबीर-बागी

(308)

्युहसीयगस्य सम्मणस्य साम्राउत्तगस्य निगामसाइस्स । ज्युहेत्रसण्यहाविस्स दुव्तहा सोगाई तारिसगस्य ॥२०॥ (२०२)

तवोगुणपहाणस्स उड्डिमईखन्तिसंजमरयस्स । परीसहे जिल्लान्तस्स सुलहा सोग्गई तारिसगस्स ॥२१॥ [दश्रु अरु गार् ७ से २७]

(308)

जो श्रमण भौतिक सुल की इच्छा रखता है, भिक्तियकालिक सुल साधनों के लिए व्याकुल रहता है, जब देखों तब सोता रहता है, सुन्दरता के फेर में गड़कर हाथ, पैर, मुँह स्त्रादि धोने में लगा रहता है, उसे सद्गति मिलनो बड़ी दुर्लभ है।

(302)

जो उत्कृष तपश्चरण का गुण रखता है, प्रकृति से सर्व है, ज्ञात श्रीर संयम में रत है, शांति के साथ जुभा आदि परोष्ट्रिंश को जीतनेवाला है, उसे सद्गति मिलनी बड़ी सुलभ है

: २४ :

जातिमद-निवारण-सुत्तं

जिनसंघ में केवल जाति का कोई मूल्य नहीं, गुणों का ही मूल्य प्रधान है, अत एव जातिमद अर्थात् 'में अमुक उच जाति में जन्मा हूँ' या 'त्रमुक उच्च कुलमें व गोत्र में जन्मा हूँ' ऐसा कहकर जो मनुष्य अपनी जाति का, कुल का व गोत्र का अभिमान करता है और इसी अभिमान के कारण दूसरों का अपमान करता है और दूसरों को नाचीज समकता है उसको मूर्व, मूढ, श्रज्ञानी कह कर ख़ुब फटकारा गया है श्रोर जातिमद, कुलमद,गोत्रमद,ज्ञानमद,तपमद तथा धनमद श्रादि श्रनेक प्रकार के मदों को सर्वथा त्याग करने को जैन शास्त्रों में बार-बार कहा गया है। इससे यह सुनिश्चित है कि जैनसंघ में या जैनप्रवचन में कोई भी मनुष्य जाति कुल व गोत्र के कारण नीचा-ऊँचा नहीं है अथवा तिरस्कार-पात्र नहीं है और अस्पृश्य भी नहीं है। अतः इस सूत्र का नाम ऋस्प्रश्यता–निवारण सूत्र भी रखें तो भी उचित ही हैं]

(३•३)

एगमेगे खलु जीवे श्रईश्रद्धाए श्रसइं उच्चागोए, श्रसइं नीयागोए। × × × नो हीगो, नो श्रइरित्ते, इति संखाए के गोयावाई के माणावाई ? कंसि वा एगे गिडमे ? तम्हा पंडिए नो हरिसे नो कुडमे।

भूएहिं जाण पिंडलेह सायं समिए एयासुपरसी। [त्राचारांग स्त्र, द्वि० त्रध्ययन, उद्देशक तृ०, स्त्र १-२-३]

: २४ :

जातिमद-निवारण सत्र

(३=३)

यह सुनिश्चित है कि प्रत्येक जीव भूतकाल में यानी अपने पूर्व-जन्मों में अनेक बार ऊँचे गोत्र में जन्मा है और अनेक बार नीच गोत्र में जनमा है।

केवल इसी कारण से वह न हीन है और न उत्तम। इस प्रकार समक्त कर ऐसा कौन होगा जो गोत्रवाद का अभिमान रखेगा व मानवाद की बड़ाई करेगा? ऐसी परिस्थित में किस एकमें आसित की जाय? अर्थात् गोत्र या जाति के कारण कोई भौ मनुष्य आसित करने योग्य नहीं है, इसी शिये समकदार मनुष्य जाति या गोत्र के कारण किसी पर प्रमन्न नहीं होता अरेर कोप भी नहीं करता।

समभा-यूभा कर,सोच-विचार कर सब प्राणियों के साथ सहानु-भूति से वर्तना चाहिए ग्रीर ऐसा समभाने वाला ही समतायुक्त है। (३,४)

जे माहगो खत्तियजायए वा, तहुगापुत्ते तह लेच्छई वा । जे पव्यइए परदत्तभोई, गोत्ते गा जे थब्भति माग्रबद्धे ॥

[सूत्र कु० १, ग्र० १३, १०]

(३:४)

जे त्रावि ऋषं वसुमं ति मत्ता, संखायवायं ऋषरिक्ख कुज्जा । तवेण वाऽहं सहिउ त्ति मत्ता, ऋण्णं जणं पस्सति विवभूयं ॥

[स्त्रकृ० १, अ० १३, ८]

(३,६)

न तस्स जाई व कुलं व तार्गा, गारगात्थ विज्जाचरणं सुचिरगां। गािक्खम्म से सेवइऽगारिकम्मं, गा से पारण होइ विमोयगाणः॥

(३0४)

जा ब्राह्मण है, चित्रियपुत्र है, तथा उप्रवंश की संतान है तथा लिच्छवी वंश की प्रजा है ऐसा जो भिन्ना से ख्राजीवन रहने वाला भिन्नु है वह अभिमान में बंधकर ख्रपने गोत्र का गर्व नहीं करता।

(30%)

जो श्रपने को धमंड से संयमयुक्त मानकर श्रीर श्रपनी वरावर परख न करके घमंड से श्रपने को जानी मान कर श्रीर में कठोर तप कर रहा हूं ऐसा घमंड करके दूसरे मनुष्य को केवल बीबा (सांचा) के समान समभता है श्र्यांत् तृरापुरुष के समान निकम्मा समभता है वह दुश्शील है, मूढ़ है, मूर्ख है श्रीर बाल है।

ं (∙३०६)

वैसे घमंडी की रहा उसकी कल्पित जाति से या कुल से नहीं हो सकती, केवल सत्का ज्ञान व सदाचरण ही रहा कर सकता है। ऐसा न समक्तकर जो त्यागी साधु होकर भी घमंड. में चूर रहता है वह साधु नहीं है, गृहस्थ है—संसार में लिपटा हुन्ना है न्नौर ऐसा वमंडी मृक्तिके मार्ग का पारगामी नहीं हो सकता। (३०७)

शिकित्वरो मिक्ख् सुलहजीवी, जे गारवं होइ सलोगगामी। आजीवमेयं तु अबुङक्तमारो, पुराो पुराो विष्परियासुवेति।।

> [स्त्रकृ० १, १३, गा• ११, १२[°]] (३०=)

पन्नामयं चेव तवोमयं च, गिन्नामए गोयमयं च भिक्खू। स्राजीविगं चेव चडत्थमाहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से ॥

(308)

एयाइ' मयाइ' विगिच धीरा ! गा तागा सेवंति सुधीरधम्मा । ते सन्त्रगोत्तावगया महेसी, उद्यं अगोत्तं च गति वयति ॥

[स्त्रकृ० १, १३ गा० १४, १६]

(३०७)

भिन्नु ग्रकिंचन है, अपरिग्रहों है ग्रीर रुखा-स्खा जो पाता है उससे ही अपनो जीवनयात्रा निभाता है। ऐसा भिन्नु होकर जो अपनी ग्राजीविका के लिये अपने उत्तम कुल, जाति व गोत्र का उपयोग करता है ग्रर्थात् भी तो अमुक उत्तम कुल का था, अमुक उत्तम घराने का था, अमुक ऊँचे गोत्र का था व अमुक विशिष्ट वंश का था' इस प्रकार अपनी बड़ाई करके जीवन—यात्रा चलाता है वह तत्त्व को न समभता हुआ बारंबार विपर्यास को पाता है।

(30=)

जो भिद्ध-मानव-प्रज्ञा के मद को, तप के मद को, गोत्र के मद को तथा चीथे धन के मद को नमाता है अर्थात् छोड़ता है वह पंडित है, वह उत्तम आतमा है।

(308)

हे धीर पुरुष ! इन मदों को काट दे—विशेषरूप से काट दे, सुधीर धर्मवाले मानव उन मदों का सेवन नहीं करते । ऐसे मदों को जड़ से काटने वाले महर्षिजन सब गोत्रों से दूर होकर उस स्थान को पाते हैं जहाँ न जाति है, न गोत्र है ह्यौर न वंश है। ह्यांत् महर्षिजन ऐसी उत्तम गति पाते हैं।

: २४ :

खामणासुत्तं

(३१०)

सञ्ज्ञस्य जीवरासिस्स भावश्चो धम्मनिहिश्रनिश्रिवतो । सञ्चे खमावइत्ता खमामि सञ्जस्स श्रहयं पि ॥१॥ (३११)

सञ्वस्स समग्रसंघरस भगवत्रो त्रंजित करित्र सीसे। सञ्वे खमावइत्ता खमामि सञ्जस्स ऋहयं पि॥२॥ (३१२)

श्रायरिए उवज्माए सीसे साहिम्मए कुल-मणे य। जे मे केइ कसाया सन्वे तिविहेण खामेमि ॥३॥ [पंचप्रति० श्रायरिश्र० ए० ३-२-१]

(३१३)

खामेमि सब्वे जीवे सब्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती में सब्वभूएस वेरं मज्मं न केणइ ॥४॥
[पंचप्रतिवृवंदित्तु स्वगाव ४६]
(३१४)

जं जं मरोगा बद्धं जं जं वायाए भासिश्चं पावं। जं जं काएगा कयं मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥४॥ [वंचप्रति० संथाराय,० श्रंतिम गाथा]

: २४ :

च्रमापन-सूत्र

(३१०)

धर्म में स्थिर बुद्धि होकर में सद्भावपूर्वक सब जीवों के पास अपने अपराधों की द्यमा माँगता हूँ ख्रीर उनके सब अपराधों को मैं भी सद्भावपूर्वक द्यमा करता हूँ।

(388)

में नतमस्तक होकर भगवत् श्रमणसंघ के पास अपने अपराधों की समा मांगता हूँ और उनको भी मैं समा करता हूँ।

(३१२)

त्राचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण त्रीर साधर्मी बन्धुत्री तथा कुल त्रीर गण के प्रति मैंने जो कोधादियुक व्यवहार किया हो उसके लिये मन, वचन त्रीर काय से द्यमा माँगता हूँ।

(३१३)

में समस्त जीवां से स्वामा माँगता हूँ श्रीर सब जीव मुक्ते भी स्वमा-दान दें। सर्व जीवां के साथ मेरी मेत्रीवृत्ति हैं; किसी के भी साथ मेरा वैर नहीं है।

(३१४)

मैंने जो जो पाप मन से — संकल्पित — किये हैं, वाखी से बोले हैं ऋीर शरीर से किये हैं, वे मेरे सब पाप मिथ्या हो जाया।

[१७३]

पारिभाषिक घ्रन्दोंका अर्थ

अकाम अविवेक अज्ञान-पूर्वक दुःखसुख आदि सहन करनेकी प्रवृत्ति या इच्छा न होने पर भी परवशतः सहन करनेकी प्रवृत्ति ।

अगृद्ध---अलोलुप ।

अचित्त-सचित्तसे उलटा-निर्जीव ।

भनगार—अन्+अगार, अगार=घर, जिसका अमुक एक घर नहीं है अर्थात् निरंतर सविधि भ्रमण-शील साधक, साधु। साधु, संन्यासी, मिक्षु, श्रमण ये सब 'अनगार 'के समनार्थ है।

अनुत्तर--- उत्तमोत्तम ।

अवधि—रूपादियुक्त परोक्ष या अपरोक्ष पदार्थको मर्यादित रीतिसे जान सकनेवाला विविध प्रकारका ज्ञान ।

आदानिक्षेप—किसीको किसी भी प्रकारका क्लेश न हो इस तरहका संकल्प धारण कर कोई भी पदार्थको धरना या उठाना।

भारत आसित युक्त अच्छी या बुरी प्रवृत्ति । आहार अशन, पान, खादिम और स्वादिम, यह चार

[१७४]

प्रकारका भोजन, अशन—कोई भी खाद्य पदार्थका भोजन, पान—कोई भी पेय पदार्थका पीना-शरबत जल दूध आदि पीनेकी चीजोंको पीना, खादिम—फल, मेवा आदि, स्वादिम—मुखवास, लवंग, सुपारी आदि।

इंगित—शारीरिक संकेत—नेत्र, हाथ, आदिके इशारे।

- ईर्या—गमन—आगमन आदि किया, ईर्या-समिति—किसीको किसी भी प्रकारका क्लेश न हो ऐसे संकल्पसे सावधानी पूर्वक चलना-फिरना आदि सब कियाओंका करना।
- उचार-समिति—शौचिकिया या लघुरांका अर्थात् किसी भी प्रकारका शारीरिक मल, मलका मानी उचार, मलको ऐसे स्थानमें छोडना जहाँ किसीको लेश भी कष्ट न हो और जहाँ कोई भी आता-जाता न हो और देख भी न सके इसका नाम उचार-समिति है।
- उब्भेइमलोण—उद्भेदिम—लवण—समुद्रके पानीसे बना हुआ सहज नमक ।
- ऊनोदरी—भूखसे कुछ कम खाना—उदरको ऊन रखना— पूरा न भरना ।
- एषणा—निर्दोष वस्न, पात्र और खानपानकी शोध करना, निर्दोषका मानी हिंसा, असत्य आदि दोषोसे रहित।

[१७५]

- एषणीय—शोधनीय—स्वोज करने लायक—जिनकी उत्पत्ति दूषित है या नहीं इस प्रकार गवेषणाके योग्य ।
- औपपातिक—उपपात अर्थात् स्वर्गमें या नरकमें जन्म होना। औपपातिक का अर्थ हुआ स्वर्गीय प्राणी या नारकी प्राणी।
- कषाय—आत्माके शुद्ध स्वरूपको कष—नाश—करनेवाला, क्रोध, मान माया और लोभ ये चार महादोष ।
- किंपाकफल—जो फल देखनेमें और स्वादमें सुन्दर होता है पर खानेसे प्राणका नाश करता है।
- केवळी—केवळज्ञान वाळा—सतंत शुद्ध आत्म-निष्ठ ।
- गुप्ति—गोपन करना-संरक्षण करना; मन, वचन और शरीरको दृष्ट कार्योसे बचा छेना ।
- तिर्यञ्च—देव, नरक और मनुष्यको छोड़कर शेष जीवोंका नाम 'तिर्यञ्च' है ।
- त्रस—धूपसे त्रास पाकर छाँहका और शीतसे त्रास पाकर धूपका आश्रय हेने वाला प्राणी—त्रस ।
- दर्शनावरणीय—दर्शन-शक्तिके आवरणरूप कर्म । नायपुत्त—भगवान महावीरके वंशका नाम 'नाय '-ज्ञात-है

[१७६]

अतः नाययुत्त-ज्ञातपुत्र-भगवान महावीरका स्वास नाम है।

निकाय--समूह, जीवनिकाय-जीवोंका समूह।

निर्श्रन्थ—गाँठ देकर रखने लायक कोई चीज़ जिनके पास नहीं है—अपरिग्रही साधु।

निर्जरा—-कर्मोंको नाश करनेकी प्रवृत्ति—अनासक्त चित्तसे प्रवृत्ति करनेसे आत्माके सब कर्म नाश हो जाते हैं।

परीषह—जब साधक साधना करता है तब जो जो विष्न भाते हैं उनके लिए 'परीषह' शब्द प्रयुक्त होता है। साधकको उन सब विष्नोंको सहन करना चाहिए इसलिए उनका नाम 'परीषह' हुआ।

पुद्गल — रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दवाले जड़ पदार्थ या या जड़ पदार्थके विविध रूप ।

प्रमाद—विषय कषाय मद्य अतिनिद्रा और विकथा आदिका प्रसंग—पांच इन्द्रियोंके शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पांच विषय, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय, मद्य—मद्य और ऐसी ही अन्य मादक चीजें, अतिनिद्रा—धोर निद्रा, विकथा—संयमको घात करने

[१७७]

वाली विविध प्रकारकी कुत्सित कथाएँ।

मति - इंद्रिय-जन्य ज्ञान ।

मनःपर्याय-दूसरोंके मनके भावोंको ठीक पहचाननेवाला ज्ञान।

महावत—अहिंसाका पालन, सत्यका भाषण, अचौर्यवृत्ति, ब्रह्मचर्य और अपरिप्रह ये पाँच महावत हैं।

मोहनीय—मोहको उत्पन्न करनेवाले संस्काररूप कर्म— मोहनीय कर्मके ही प्राबल्यसे आत्मा अपना स्वरूप नहीं पहचानता।

रजोहरण—रजको हरनेवाला साधन—जो आजकल पतली ऊनकी डोरियोंसे बनाया जाता है—जैन साधु निरंतर पास रखते हैं—जहाँ बैठना होता है वहाँ उससे झाड़-कर बैठते हैं। जिसका दूसरा नाम 'ओघा'—'चरवला' है।

लेश्या-अात्माके परिणाम-अध्यवसाय ।

बिडलोण—गोमूत्रादिक द्वारा पका हुआ नमक ।

वेदनीय—शरीरसे वा इंद्रियोंसे जिनका अनुभव होता है ऐसे सुख या दुःखके साधनरूप कर्म ।

वैयावृत्त्य—बाल, वृद्ध, रोगी आदि अपने समान धर्मियोंकी सेवा। हैोलेशी—हिालेश–हिमालय, हिमालयके समान अकंप स्थिति।

[१७८]

श्रद्धान—श्रद्धा—स्थितप्रज्ञ वीतराग आप्तपुरुषमें दढ विश्वास। श्रमण—स्वपरके कल्याणके लिए श्रम करनेवाला। यह शब्द जैन और बौद्ध साधुओंके लिए व्यवहारमें प्रचलित है।

श्रुत-सुना हुआ ज्ञान-शास्त्रज्ञान।

सकाम—विवेक-ज्ञान-पूर्वक दुःख सुखादि सहन करनेकी प्रवृत्ति या स्वतंत्रविचारसे सहन करनेकी प्रवृत्ति। देखो अकाम।

सचित्त—चित्तयुक्त—प्राणयुक्त-जीवसहित कोई भी पदार्थ।
समिति—शारीरिक, वाचिक और मानसिक सावधानता।
संवर—आश्रवोंको रोकना, अनासक्त आत्माकी प्रवृत्ति—
आत्माकी शुद्ध प्रवृत्ति।

सँछेखना—मृत्यु (शरीरान्त) तक चलनेवाली वह प्रवृत्ति जिससे कषायोंको दूर करनेके लिए उनका पोषण और निर्वाह करनेवाले तमाम निमित्त कम किए जाते हों।

ज्ञानावरणीय—ज्ञानके आवरणरूप कर्म—ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञानके साधनके प्रति देषादि दुर्भाव रखनेसे ज्ञानावरणीय कर्म बंधते हैं।

महावीर-वाणीके पद्योंकी अक्षरानुक्रमणिका

पद्यका आदिवाक्य	पद्यका अंक	पद्यका आदिवाक्य	पद्यका अंक
अचेइ कालो	१६०	अभिक्खणं	८१
अज्झत्थं सन्वओ	१६	अभिभूय	२७४
अट्ट पवयण—	२४१	भरई गण्डं	१२३
अणसण—	२३६	अलोल भिक्खू	२७७
अणाइकाल—	१४१	अलोलुए अक्कुहए	२५ १
अत्थंगयम्मि	६४	अलोलुयं	२६ ३
अदंसणं चेव	४३	अवण्णवायं	२५०
अधुवं जीवियं	१६१	अवि पावपरि	८२
अन्नायउंछं	२ ४६	असासए सरीर्म्मि	१७३
अपणट्ठा	२२	असंखयं जीविय	९९
अप्पा कत्ता	२१ २	अह भट्ठहिं	७३
अप्पा चेव	२१३	अह पन्नरसिंह	७६
अपाणमेव	२१६	अह पंचिह	७२
अप्पा नई	२११	अहीणपंचेन्दियत्तं	११९
अपा खलु	२२०	अहे वयंति	१४८
अप्पं च अहि—	૭૭	अहिंस सचं च	२
अबंभचरियं	३९	अंगप चं गसंठाणं	४६

[१८०]

पद्यका आदिवाष्य	पद्यकः अंक	पद्यका आदिवाक्य	पद्यका अं क
आणाऽनिदेसकरे	٥٥	एमेव रूवम्मि	१३७
आणानिदेसकरे	હ ધ	एयाई मयाई	३०९
आयरिए उवज्झाप	ए ३१२	एयाओ पंच	२४३
आयारमट्ठा	२४५	एवमावद्टजोणीसु	८९
आहच	९३	एविन्दियत्था य	१३९
आहारमिच्छे	२०७	एवं खु नाणिणो	१८
इइ इत्तरियम्मि	११ 8	एवं गुणसमाउत्ता	२६८
इमं सरीरं	१६७	एवं च दोसं	६७
इरियाभासेसणा	२४२	एवं धम्मस्स	७१
इह जीवियं	१९२	एवं धम्मं	६
उड्ढं अहे य	३५	्एवं भवसंसारे	११६
उद्दुछ बीय	६ ६	एस धम्मे धुवे	५७
उवउङ्गिय मित्त	१२६	एसा पवयण	. २ ४४
. उवलेवो होइ	१५७	कम्मसंगेहिं	९०
उवसमेण हणे	१४५	कम्माणं तु	९ १
उवहि म्मि	२७६	कम्मुणा	२६७
एगया खतियो	66	कलहडमर	७९
एगमेगे खलु	३०३	कसिणं पि	१४६

[१८१]

पदाका आदिवाक्य	पद्यका अंक	पद्यका आदिवाक्य	पद्यका अंक
कहं चरे ?	२८२	चत्तारि परम	८७
कामाणुगिद्धि—	५ ५	चत्तारि वमे	२७०
कायसा	१८४	चरे पयाइं	१०५
किण्हा नीला २३	८, २३९	चिचा दुपयं	१७०
कुसग्गे	११३	चिच्चाणं धणं	१२५
कूइयं रुइयं	४७	वित्तमंतमचित्तं ३	३, २६०
कोहा वा जइ वा	२५९	चीराजिणं	१५८
कोहो पीइं	१४४	छन्दंनिरोहेण	१०६
कोहो य माणो य	१४२	जगनिस्सिएहिं	१४
कोहं च माणं च	१५१	जणेण सद्धि	१८१
कोहं माणं च	१४३	जम्मं दुक्खं	१६६
खणमेत्तसोक्खा	१५४	जमिणं जगई	१७२
खामेमि सन्वे	३१३	जया कम्मं	३००
खिपं न सकेइ	१०८	जया गइं बहुविहं	२९०
ग इलक्खणो	२२४	जया चयइ	२९३
मुणेहि साह्	२५२	जया जीव	२८९
चङ्गं	९८	जया धुणइ	२ ९६
चउन्विहे वि	६८	जया निर्विवदए	२९ २

[१८२]

पखका आदिवाक्य	पद्यका अंक	पद्यका आदिवाक्य	पद्यका अंक
जया पुणां च	२९१	जहा य किंपाग-	१५६
जया मुंडे	२ ९४	जहा लाहो	१ 8७
जया चयइ	२ ९३	जहा सागडियो	ધ
जया य चयइ	१८७	जहित्ता पुव्व	२६४
जया छोग	२ ९८	जहेह सीहो	१७१
जया लोगे	२९९	जाइं च वुडि्ंढ	२०९
जया सन्वत्तगं	२ ९७	जा जा वचइ	৩, ८
जया संवर	२९५	जायरूवं	२५६
जयं चरे	२८३	जावन्तऽविज्ञा	१९३
जरा जाव	\$	जावन्ति लोए	१२
जरा-मरण	8	जीवा-ऽजीवा य	२२८
जस्संतिए	۲8	जीवियं चेव	१७५
जस्सेवमप्पा	२१९	जे आवि अपं	३०५
जहा किंपाग	१५५	जे केइ पव्य-	१८९
जहा कुम्मे	२०३	जे केइ बाला	१८६
जहा दवग्गी	५१	जे केइ सरीरे	१५९
जहा पोम्मं	२६२	जे गिद्धे	१७९
जहा य अंड-	१३१	जे पाव—	१००

[१८३]

पराका आदिवाक्य	पद्यका अंक	पयका आदिवाक्य	पद्यका अंक
जे ममाइअमइं	२०२	तवोगुण	३०२
जे माहण	३०४	तसपाणे	२५८
जे य कंते	१९९	तस्सेस मग्गो	२०६
जे संखया	१११	तहियाणं तु	२२९
जो जीवे २०	८७, २८८	तहेव काणं	३०
जो न सज्जइ	२५५	तहेव डहरं	२५३
जो पन्वइत्ताण	२२२	तहेव फरुसा	३२
जो सहइ	२७३	तहेव सावज्ज—	२ ५;
जो सहस्सं २	०४, २१५	तिण्गो सि	१२८
जं जं मणेण	३१४	तिञ्वं तसे	३ ६
जं पि वत्थं च	६१	तुलियाग	१९७
डहरे य पाणे	२०१	तेउ-पम्हा—	२४०
णिकिंचणे	३०७	तेणे जहा	१०२
तओ पुट्ठो	१८५	तेसिं गुरूणं	२ ५४
तओ से	१८२	तं अपणा	38
तत्थ पञ्चविहं	२३२	तं देहवासं	२८१
तिथमं	११	थंभा व कोहा	८५
तवस्सियं	२५७	दंतसोहण	३७

[१८४]

-पद्यका आदिवाक्य	पद्यका अंक	पद्यका आदिवाक्य	पद्यका अंक
दाराणि सुया	१६८	न जाइमत्ते	२७९
दिट्ठं मियं	२६	न तस्स जाई	३०६
दिव्व-माणुस—	२६१	न तस्स दुक्खं	१७६
दुक्खं हयं	१३३	न तं अरी	२१८
दुज्जए	५४	न परं वइज्जासि	२७८
दुप्परिचया	१६४	न य पावपरिक्खेर्व) ૭૮
दुमपत्तए	११२	न य वुग्गहियं	२७२
दुछहे खछ	११५	न रूवलावण्ण—	४२
देव-दाणव-	५६	न लवेज	२४
घण्-धन्न	५९	न वा लमेजा	२०८
धम्मलद्धं	५०	न वि मुंडिएण	२ ६५
धम्मो अहम्मो	२२३	न सो परिग्गहो	46
धम्मो मङ्गल-	१	नाणस्स सव्वस्स	२०५
धम्मं पि हु	१२१	नाणस्सावरणिजं	२३३
धीरस्स पस्स	१९६	नाणेणं जाणइ	२३०
न कम्मुणा	२१०	नाणं च दंसणं २२	६,२३१
न कामभोगा	१४०	नामकम्मं	२३४
न चित्ता	१७७	नासीळे	98

[१८५]

पद्यका आदिवाक्य	पद्यका अंक	पद्यका आदिवावय	पराका अंक
निचकाल	२१	बुद्धस्स निसम्म	१२९
नि च ्चव्विगो	१८८	भासाए दोसे य	२७
पइण्णवादी	८३	भोगामिसदोस	१७८
पंढमं नाणं	२८५	मणपल्हायजणणी	88
पन्नामयं	३०८	मन्दा य फासा	११०
पणीयं भत्त-	४९	मरिहिसि रायं!	8 ∞
पमायं कम्म	१३०	माणुसत्तम्मि	94.
परिजूरइ	१२२	माणुसत्ते	8.08
पवेयए अज्जपयं	२८०	माणुस्सं विग्गहं	९२ :
पाणिवह-मुसावाया	६९	मासे मासे	१९१
पाणे य नाइ	३	मुसावाओ य	२३
पायच् छित ं	२ ३७	मुहुं मुहुं मोह	१०९.
पुढवी साली	१५०	मूलमेयमहम्मस्स	४०
पुरिसोरम	१६२	मूलाओ खंधप	७०
पंचिंदिय	२१७	रसा पगामं न	१३४
बालस्स पस्स	१९५	रागो य दोसो	१३२
बालाणं अकामं	१९४	रूवा णुरत्तस्स	१३६
विडमुन्मेइमं	६०	रूवे विरत्तो	१३८

[१८६]

भवका आदिवाक्य	पद्यका अंक	पद्यका आदिवाक्य	पद्यका अंक
रूवेसु जो	१३५	वोच्छिन्द	१२४
रोइक्षनायपुत्त-	२६९	सका सहेउं	२४८
ल्रद्भूण वि ११७,	११८,	सद्दे रूवे य	५३
•	१२०	सद्धयार-	२२७
<i>लोहस्</i> सेस	६३	सन्तिमे	६५
वत्तणालक्खणो	२२५	स पुव्वमेवं	१०७
वत्थगन्ध	२००	समयाए	२६६
वरं मे	२१४	समया सन्व	२०
विगिच	९७	सम्मदिट्ठी	२७१
वितहं पि	३१	समावयंता	२४९
वित्तेण ताणं	१०१	समिक्ख	१९८
वित्तं पसवो	१६५	समं च	84
विभूसा इत्थिसं	8 \$	सयं तिवायएं	१३
विभूसं	. ५२	सयं समेच	२८
विरई अवंभ	३८	सरीरमाहु	२२१
विवत्ती अविणी	८६	सहं कामा	१५२
वेया अहीया न	१६९	सवकसुद्धि	२९
वेराई कुव्बइ	१९०	सञ्बत्थुवहिणा	ं ६२

[१८७]

पराका आदिवाक्य	पद्यका अंक	पद्यका आदिवाक्य	पद्यका अंक
सन्वभूयपभूयस्स	२८४	सोचा जाणइ	२८६
सव्वस्स जीव—	३१०	सो तवो	२३५
सन्वस्स समण	३११	सोही उज्जुय	९६
सन्वाहिं अणुजु	१७	संथारसेज्जा	२४७
सन्वे जीवा	१ ५	संबुङ्झमाणे	१९
1		संबुज्झह कि न	१६३
सन्वं विलवियं	१५३	संसारमावन	१०३
सुइं च लद्धुं	९४	हत्थसंजए	२७५
सुत्तेसु	१०४	हत्थागया	१८०
सुवण्णरुपस्स	888	हासं किड्डं	85
सुहसायगस्स	३०१	हिंसे बाले	१८३

शुद्धिपत्रक

- १ मूल गाथामें और हिन्दी अनुवादमें कई जगह टाइप बराबर ऊठे नहीं है तथा संख्याके अंक भी बराबर स्पष्ट छपे नहीं है तथा अनुस्वार, अक्षरके ऊपरकी मात्राएं— दीर्घकी मात्रा, एकारकी मात्रा वगेरे मात्राएं—स्पष्टतया ऊठी नहीं हैं।
- २ व और ब में भी छपनेमें संकरसा हो गया है।
- कई जगह टाइपके बाजुमें और ऊपरमें कुछ धब्बासा
 भी छप गया है।
- अक्षरके ऊपरके अनुस्वार कई जगह यथास्थान नहीं छपे परंतु खिसकर छपे हैं।
- ५ ० ऐसा शून्य भी स्पष्ट छपा नहीं है।

इस प्रकार मुद्रणकी भारी त्रुटिसे वाचकलोग गभराये नहीं परंतु उस तरफ उपेक्षाभाव रखकर प्रंथको पढें ऐसी मेरी नम्र सूचना हैं।

[१८९]

अशुद्ध

गुब

• •
चतुरंगी
जा तिमदनिवारण
अर्हन्तकी
धम-सूत्र
सन्वं दिस्स,
भयवेराओ
सम्यक्ज्ञान
सबी
एवं
दुक्वरं
म् र्म
वि
स्त्रियोंका
स्वादिष्ट
पाणिहाणवं
श्रृंगार
ट्टू गारी श्रुगारी
त्रुगारा बंभयारि
आशक्ति का
सर्विं
एयं

```
चतुरंगीय
               (विषयसूची)
 जातिमदनिवारणसूत्र
बर्हन्तोका (मंगलसूत्र-शरण)
धर्मसूत्र
            पु० ११
सन्वं, दिस्स गा० १६
 भय-वेराओ
 सम्यग्ज्ञान गा० १७ (अनुवाद)
सभी
                      ( ,, )
एयं
             गा० १८
दुकरं
             गा० २१
मर्म-
             गा० २४ (अनुवाद)
पि
             गा० ३१
स्त्रियोंका
             गा० ४१ (अनुवाद)
स्वादिष्ठ
             गा० ४१ ( ,, )
पणिहाणवं
             गा० ५४
शृंगार
             गा० ५२
श्ंगारी
बंभयारिं
            गा० ५६
आसित का गा० ५८
सप्पि
           गा० ६०
एवं
             गा० ६७
```

[१९०]

अशुद्ध	शुद्ध	
अरात्रि —भोज न—	अ रात्रिभोजन-	– गा० ६४ (शीर्षक-
		अनुवाद)
ह्यते !	छा ते	गा० ९४ (अनुवाद)
पमत्त	पमत्ते	गा० १०१
पंचिन्दिया	पंचिन्दियया	गा० ११८
विइयं	बिइयं	गा० १२६
स्वादिष्ट	स्वादिष्ठ	गा० १३४ (अनुवाद)
लोहा	लोहो	गा० १४७
परित्याग	परित्याग	गा० १५१ (अनुवाद)
विणिअहेज	विणिअङ्गेज	गा० १६१
पुणरवि	पुणरावि	गा० १६३
सुवया	सुन्वया	गा० १६४
राजन् ,	राजन्!	गा० १७५ (अनुवाद)
पंडितमन्य	पंडितंमन्य	गा० १७७ (,,)
Ance .	हैं ,	गा० १७९ (,,)
भयम्रान	भयभान्त	गा० १८८ (अनुवाद)
चिच	चिच्चा	गा० १९६
उच्छंखल	उच्छृंखल	गा० १९२ (अनुवाद)
पडिए	पंडिए	गा० १९८
ह्	ह	गा० १९९

[१९१]

यगुद	शुद्ध	
मुत्तत्थ	सुत्तत्थ	गा० २०६
सम	समं	गा० २०८
त त्वज्ञानी	तत्त्वज्ञानी	गा० २०७ (अनुवाद्)
वेयवणी	वेयरणी	गा० २११
कामदुधा	कामदुघा	गा० २११ (अनुवाद)
अप्पाणमेव	अपणामेव	गा० २१६
कोहे	कोहं	गा० २१७
छक् खखणो	ल क् खणो	गा० २२४
चरितं	चरित्तं	गा० २२६
जावस्स	जीवस्स	"
नाण	नाणं	गा० २३१
ज्ञानवरणीय	ज्ञानावरणीय	गा० २३३, २३४
		(अनुवाद्)
अ शातना	आशातना	गा० २४५ (,,)
माहण	माहणं	गा० २५७
जइ हासा	जइ वा हासा	गा० २५९
ववकेणं	वकेणं	गा० २६१
अकिचन	अकिंचन	गा० २६३ (अनुवाद)
रोइअ नायपुत्त	रोइअनायपुत्त	गा० २६९
पुराण पावगं	पुराणपावगं	गा० २७१
मन्ते	मत्ते	गा० २७९

[१९२]

अशुद्ध	शुद्ध		
छेयपवागं	छेयपावगं	गा०	२८५
बंध	बंधं		२९०
तत्व	तत्त्व	गा०	२८७ (अनुवाद)
अजीवको भी घह	अजीवको भी ज	ा न ता है	है वह
*		गा०	२८८ (अनुवाद)
सब्भिन्तरं बाहिरं	सब्भिन्तरबाहिरं	गा०	२९२, २९३
पुण्ण	पुण्णं	गा०	२९१
धर्म	धम्मं	गा०	२ ९8
धुइ <mark>ण</mark>	धुणइ	गा०	२ ९६
कर्म	कम्मं	गा०	२ ९९
नीष	नीचे	नं०	३०३
(सांचा)	(चंचा)	गा०	३०५
१७८	१६८ (पृष्ठ	शंक)	
शब्दोंका	शब्दोंकै	वृ०	१७३

मोह दुक्ख काल घोर धारए क्षित मोहनीय रत वियाणइ अमणोचित मोक्षमार्ग होनेमें दुःख जीतने वाला सुखी वीर मोक्ता सया होता है लोहो रूप जाती है दुःखी स्वाधीन भविष्य लोक वित्तणो सुणी लोए और परतंत्रता शरीर तपस्वी तत्त्व ऐसे अनेकानेक शब्द अस्पष्ट छपे है अतः सावधान होकर पढनेकी नम्न सूचना है। भारत जैन महामण्डल वर्धा के लोकप्रिय प्रकाशन

11/4 21 1611 24 111	As for succes a security .
प्यारे राजा बेटा (भाग १ और २)	रिषभदास रांका ॥=)
जीवन जौहरी (स्व. जमनालालजी बजा	ज)रिषभदास रांका १।)
गीता प्रवन्तने	आचार्य विनोबा १॥)
धर्म और संस्कृति	जमनालाल जैन १।)
समाज और जीवन	जमनालाल जैन १)
बुद्ध और महावीर तथा दो भाषण	कि. घ. मशस्वाला १)
उज्ज्वल प्रवचन	उज्ज्वल कुमारीजी ॥=)
मणिभद्र (उपन्यास)	उदयलाल काशलीवाला १।)
महावीर वाणी (जैन गीता)	पं० बेचरदासजी २।)
जो सन्तोंने कहा	(स्टॉक में नहीं)
सर्वोदय यात्रा	आचार्य विनोबा १।)
तत्त्व समुचय	डॉ॰ हीरालाल जैन २॥)
तत्त्वार्थ सूत्र	पं॰ सुखलालजी ५॥)
महावीर का जीवन-दर्शन	रिषभदास रांका ।>
आदर्श विवाह-विधि	रिषभदास रांका ।-)
	जबनालाल जैन
मारने की हिम्मत (बहानी संग्रह)	म॰ भगवानदीन १)
सलौना सच (भाग १) बालकोपयोगी) म० भगवानदीन ॥)।=)
मेरे साथी (संस्मरण और जीवन-चित्र	
महावीर और उनका साधना-मार्ग	रिषमदास रांका
महावीर वर्धमान	डॉ॰ जगदीशचन्द्र जैन ॥।)
धानकी खेतीकी नई पद्धति	रिषमदास शंका ।)
सम्पत्तिदान-यज्ञ	श्रीकृष्णदास जाजू 🖘
चिनगारियां	ताराचंद कोठारी ।=)

शारदा मुद्रणालयः अहमदाबाद